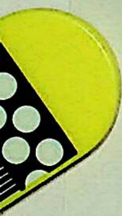
जे. कृष्णमूर्ति



शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य



शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य

जे० कृष्णमूर्ति

•

अनुवाद : डॉ० डी० एस० वर्मा

•

कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया
वाराणसी

प्रकाशक :

राजघाट शिक्षा संस्थान, राजघाट फोर्ट, वाराणसी

हिन्दी अनुवाद : Education and the Significance of Life

चतुर्थ संस्करण : १९९८

मूल्य : रु० ६०.००

अनुवादक :
डॉ० डी० एस० वर्मा

आवरण :
डॉ० ओम निश्चल

मुद्रक :
सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस
पाण्डेयपुर, वाराणसी, फोन : ३८५४३२

अनुक्रमणिका

शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व

कोई व्यक्ति जब विश्व में चारों ओर भ्रमण करता है तो वह देखता है कि चाहे भारत हो अथवा अमेरिका, योरोप हो अथवा आस्ट्रेलिया, सर्वत्र ही मानव स्वभाव असाधारण रूप से एक समान है। कालेजों एवं विश्वविद्यालयों के विषय में यह विशेष रूप से सत्य है। मानो किसी साँचे में हम एक प्रकार के मनुष्यों को ढालते जा रहे हैं जिनकी प्रमुख अभिरुचि सुरक्षा की खोज है, अथवा कोई महत्त्वपूर्ण पद पाना चाहते हैं अथवा कम-से-कम बुद्धि और विवेक से मौज-मस्ती में समय व्यतीत करना चाहते हैं।

परम्परागत शिक्षा स्वतन्त्र चिन्तन को अत्यधिक कठिन बना देती है। अनुयायी बनने से निम्न दर्जे की वस्तु ही उत्पन्न होती है। किसी समूह से भिन्न होना अथवा परिवेश का प्रतिरोध करना सरल नहीं है। हम सफलता की उपासना करते हैं, यह प्रायः खतरनाक भी है। सफल होने की प्रेरणा, किसी फल की प्राप्ति के प्रयत्न में लगे रहना है, चाहे वह भौतिक क्षेत्र में हो अथवा तथाकथित आध्यात्मिक क्षेत्र में तथा अभ्यान्तर अथवा बाह्य सुरक्षा की खोज, सुख-सुविधा की वासना— यह सारी-की-सारी प्रक्रिया असन्तोष का गला घोंटती है, स्वच्छन्दता का अन्त करती है; और भय जीवन को विवेकपूर्ण ढंग से समझने में बाधक बनता है। बढ़ती हुई आयु के साथ मन और हृदय भी स्फूर्तिहीन होने लगते हैं।

होता यह है कि सुख-सुविधा की खोज में हम जीवन का कोई शांत कोना खोज लेते हैं जहाँ न्यूनतम द्वन्द्व हो और तब उस एकान्त कोने से बाहर निकलने में हमें भय लगता है। जीवन का यह भय, संघर्ष एवं नवीन अनुभवों का भय, हमारे अंदर साहसी उपक्रमों की भावना नष्ट कर देता है। हमारे समस्त पालन-पोषण तथा शिक्षा ने इनके प्रति हमें भयभीत कर दिया है कि अपने पड़ोसी से हम कुछ भिन्न हों, समाज की स्थापित संरचना से हम कुछ विपरीत सोचें; हमें सत्ता और परम्परा का झूठा सम्मान करने को, विवश किया गया है।

सौभाग्य से कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो वामपंथी हैं, वे वामपंथी अथवा दक्षिणपंथी पूर्वाग्रहों के बिना ही हमारी मानवीय समस्याओं की छानबीन करने की इच्छा रखते हैं और उसके लिए तैयार हैं; परन्तु हममें से अधिकांश व्यक्तियों

में असंतोष अथवा विद्रोह की कोई वास्तविक प्रवृत्ति नहीं है। जब हम परिवेश के प्रति, बिना उसे समझे ही, आत्म-समर्पण कर देते हैं तो विद्रोह की जो भी भावना हमारे अंदर होती है, मर जाती है, और हमारे दायित्व शीघ्र ही उसे समाप्त कर देते हैं।

विद्रोह दो प्रकार का होता है। एक तो हिंसात्मक विद्रोह, जो स्थापित व्यवस्था के विरोध में बिना समझे-बूझे की हुई एक प्रतिक्रियामात्र होता है और दूसरा विवेकजन्य गहरा मनोवैज्ञानिक विद्रोह। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो स्थापित रूढ़िवादी व्यवस्थाओं के विरोध में विद्रोह तो करते हैं, परन्तु पुनः नवीन रूढ़िवादी व्यवस्थाओं, नई भ्रांतियों एवं प्रच्छन्न आत्म-तुष्टीकरण में फँसते ही जाते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि हम एक वर्ग के या किसी स्थिर आदर्शों से पृथक होकर दूसरे वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं, दूसरे आदर्शों को स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार विचारों की एक नवीन व्यवस्था-प्रणाली का सृजन करते हैं, जिसके विरोध में हमें पुनः विद्रोह करना होगा। प्रतिक्रिया केवल विरोध उत्पन्न करती है और सुधार के पुनः शोधन की आवश्यकता पड़ती है।

परन्तु एक ऐसा भी विवेकपूर्ण विद्रोह होता है जो प्रतिक्रिया-मात्र नहीं होता और जो अपने विचारों और भावनाओं के प्रति चेतना द्वारा उत्पन्न आत्मबोध के साथ आता है। केवल तभी हम अपने विवेक को, सम्यक् बुद्धि को अत्यधिक जागृत अवस्था में रख सकते हैं जब हम अपने अनुभव का जैसे-जैसे वह आता जाता है साक्षात्कार करते हैं और विक्षोभ से बचने का प्रयत्न नहीं करते; और सर्वाधिक जागृत सम्यक् बुद्धि ही अन्तश्चेतना होती है और यही जीवन में वास्तविक मार्ग-निर्देशक होती है।

जीवन का महत्त्व क्या है? हम जीवित क्यों हैं, क्यों संघर्ष कर रहे हैं? यदि हम विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए, अच्छी नौकरी को प्राप्त करने के लिए, अधिक कार्यक्षम होने के लिए, दूसरों पर अधिकाधिक आधिपत्य रखने के लिए शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं तो यह सब हमारे जीवन को छिछला और खोखला करेंगे। यदि हम केवल वैज्ञानिक बनने के लिए, विद्वान होने के लिए पुस्तकों में लीन हो रहे हैं अथवा ज्ञानरत होकर कोई विशेषज्ञता अर्जित करने के लिए शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं तो हम विश्व में विनाश और दुख ही उत्पन्न करेंगे।

यद्यपि जीवन का उच्चतर एवं व्यापक महत्त्व है, परन्तु यदि हम इस महत्त्व को कभी खोजते ही नहीं तो हमारी शिक्षा का मूल्य ही क्या है? हम बहुत

अधिक शिक्षित हो सकते हैं, परन्तु यदि हमारे विचार और भावना में गहरा समन्वय नहीं है तो हमारा जीवन अपूर्ण एवं अन्तर्विरोधी होगा तथा हम भय से पीड़ित होंगे; और जब तक शिक्षा जीवन के प्रति इस एकीकृत दृष्टिकोण को नहीं विकसित करती, उसका महत्त्व नगण्य है।

अपनी वर्तमान सभ्यता में जीवन को हमने इतने अधिक विभागों में बाँट दिया है कि शिक्षा का इससे अधिक और कोई अर्थ नहीं रह गया सिवाय इसके कि उससे हम किसी विशेष तकनीक अथवा व्यवसाय को सीख लें। व्यक्ति में समन्वित सम्यक् बुद्धि को जागृत करने के स्थान पर शिक्षा उसे किसी साँचे के अनुरूप बनाने के लिए प्रोत्साहित करती है और इस प्रकार एक समग्र प्रक्रिया के रूप में आत्मबोध में बाधक बनती है। अस्तित्व की अनेक समस्याओं का उनके अपने स्तरों पर ही समाधान करने का प्रयत्न करना, जहाँ वे विभिन्न वर्ग-कोटियों में बँटी हुई हैं, इसका द्योतक है कि हमने उन्हें बिल्कुल समझा ही नहीं है।

व्यक्ति विभिन्न इकाइयों से मिलकर बना है, परन्तु इन भिन्नताओं पर जोर देने और किसी निश्चित ढाँचे के विकास को प्रोत्साहित करने से अनेक प्रकार की जटिलताओं एवं अन्तर्विरोधों का जन्म होगा। शिक्षा को इन पृथक इकाइयों में समन्वय लाना चाहिए, क्योंकि बिना समन्वय के जीवन दुखों और द्वन्द्वों की शृंखला बन जाता है। वकील के रूप में हमारे प्रशिक्षित होने से ही क्या लाभ है यदि हम मुकदमेबाजी को प्रोत्साहित करते हैं? यदि हम अपनी भ्रान्ति में ही बने रहते हैं तो ज्ञान का मूल्य ही क्या है? तकनीकी और औद्योगिकी क्षमता का महत्त्व ही क्या है यदि हम उसका प्रयोग एक दूसरे को नष्ट करने के लिए करते हैं? हमारे अस्तित्व का क्या महत्त्व है यदि उसका परिणाम हिंसा एवं अधिकाधिक कष्ट ही है? यद्यपि हमारे पास सम्पत्ति है अथवा उसको अर्जित करने की क्षमता है, हमारे अपने भोग-विलास हैं और संगठित धर्म भी है, फिर भी हम एक ऐसे द्वन्द्व में पड़े हैं जिसका अन्त नहीं है।

हमें वैयक्तिक और व्यक्तिगत भेद को समझना चाहिए। जो वैयक्तिक है, वह आकस्मिक है; और आकस्मिक से मेरा तात्पर्य जन्म की परिस्थितियाँ और वह परिवेश है जिसमें हमारा पोषण हुआ है। जिसमें राष्ट्रीयता, अन्ध-विश्वास, वर्ग-भेद तथा पूर्वाग्रह निहित हैं। वैयक्तिक अथवा आकस्मिक, क्षणिक है, यद्यपि ऐसा क्षण जीवन भर बना रह सकता है, और चूँकि शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था इस वैयक्तिक, आकस्मिक एवं क्षणिक पर ही आधारित है, अतएव यह विचारों की भ्रष्टता तथा आत्मसुरक्षात्मक भयों को बढ़ावा देती है।

हममें से सभी को शिक्षा ने तथा परिवेश ने इसी बात के लिए प्रशिक्षित किया है कि हम वैयक्तिक लाभ और सुरक्षा खोजें और अपने लिए संघर्ष करें। यद्यपि हम उसे अलंकृत शब्दावलियों से ढँके रहते हैं, परन्तु हमें एक ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न व्यवसायों के लिए शिक्षित किया गया है जो शोषण और परिग्रही-भय पर ही आधारित है। ऐसे प्रशिक्षण का परिणाम निस्संदेह विश्व में तथा हमारे अंदर दुख और भ्रांति उत्पन्न करना ही होगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में वह उन मनोवैज्ञानिक अवरोधों को उत्पन्न करता है जो उस व्यक्ति को दूसरों से पृथक् किये रहता हैं।

शिक्षा केवल मन को प्रशिक्षित करना ही नहीं है। प्रशिक्षण कार्यकुशलता को उत्पन्न करता है, परन्तु वह पूर्णता नहीं लाता। वह मन जिसका केवल प्रशिक्षण ही किया गया है अन्ततः अतीत का ही सातत्य मात्र है। ऐसा मन कभी भी 'नवीन' की खोज नहीं कर सकता। इसी कारण यह जानने के लिए कि उचित शिक्षा क्या है, हमें जीवन-प्रक्रिया के सम्पूर्ण महत्त्व की जाँच करनी पड़ेगी।

हममें से अधिकांश व्यक्तियों के लिए इसका कोई मूलभूत महत्त्व नहीं है कि समग्र रूप में जीवन का क्या अर्थ है; हमारी शिक्षा गौण मूल्यों को ही महत्त्व प्रदान करती है तथा ज्ञान के किसी विशेष विभाग में ही वह हमें कार्य-कुशल बनाती है। यद्यपि ज्ञान तथा कार्य-कुशलता आवश्यक है, परन्तु उन्हीं को विशेष महत्त्व देने से भ्रांति तथा द्वन्द्व उत्पन्न होता है।

प्रेम से प्रेरित क्षमता में भी एक अपरिमित कार्यक्षमता है और यह महत्त्वाकांक्षा प्रेरित कार्यक्षमता से भी श्रेष्ठ है; और प्रेम रहित कार्यक्षमता, कठोरता को ही जन्म देती है? क्योंकि जीवन के समन्वित बोध के लिए प्रेम आवश्यक है। यह प्रेम ही है जो जीवन के प्रति एक समन्वित अवबोध उत्पन्न करता है। क्या विश्व में सर्वत्र प्रेम-विहीन कार्यक्षमता का ही विकास नहीं हो रहा है? हमारी वर्तमान शिक्षा को औद्योगीकरण तथा युद्ध के अनुकूल बनाया गया है, उसका मुख्य लक्ष्य कार्यक्षमता का विकास करना है; और हम निष्ठुर प्रतिद्वंद्विता तथा परस्पर-विनाश के इस यंत्र में फँस गये हैं। यदि शिक्षा युद्ध को उत्पन्न करती है, यदि यह हमें नष्ट करना अथवा नष्ट होना सिखाती है तो क्या वह पूर्णतया असफल नहीं हुई है?

उचित शिक्षा को संभव बनाने के लिए स्पष्टतया हमें जीवन के अर्थ को, उसकी समग्रता में, समझना चाहिए और उसके लिए हमें इस योग्य बनना चाहिए

कि हम अपरोक्ष तथा सच्चे रूप से विचार कर सकें न कि स्थिर रूप से। एक दृढ़ विचारक विचारहीन व्यक्ति होता है, क्योंकि वह किसी प्रारूप का अनुयायी होता है; क्योंकि वह वाक्यों की पुनरावृत्ति करता है तथा एक लीक पर ही सोचता है। अस्तित्व को अमूर्त अथवा सैद्धान्तिक रूप में नहीं समझा जा सकता। जीवन को समझने का अर्थ स्वयं अपने को समझना है, और यही शिक्षा का आरम्भ और अन्त दोनों है।

ज्ञान उपलब्ध करना एवं तथ्यों को एकत्रित और उन्हें परस्पर सम्बन्धित करना ही केवल शिक्षा नहीं है; उसका अर्थ जीवन की समग्रता में उसके महत्त्व को देखना है। परन्तु किसी समग्रता को उसके टुकड़ों के माध्यम से नहीं देखा जा सकता, जब कि सरकारें, संगठित धर्म एवं सत्तावादी दल सभी यही करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

शिक्षा का कार्य ऐसा मनुष्य उत्पन्न करना है जो समन्वित हों और, इसलिए विवेकपूर्ण हों। हम बिना विवेकपूर्ण हुए भी डिग्री प्राप्त कर सकते हैं तथा यांत्रिक रूप से सक्षम हो सकते हैं। विवेक का अर्थ तथ्यसंग्रह नहीं है; वह पुस्तकों से नहीं प्राप्त होता और न ही चालाकियों से भरी आत्म-सुरक्षात्मक प्रतिक्रियाओं से ही तथा दूसरों को आघात पहुँचाने वाले आग्रह निहित होते हैं। जिसने अध्ययन किया है उसकी अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण वह हो सकता है जिसने अध्ययन नहीं किया है। हमने परीक्षाओं और उपाधियों को विवेक का मापदण्ड बना लिया है और चालाकी से भरे ऐसे मन को विकसित किया है जो महत्त्वपूर्ण मानवीय समस्याओं की उपेक्षा करता है, उनसे बच निकलता है। सम्यक् बुद्धि 'जो है' उसमें साक्षात्कार करने की क्षमता है; तथा स्वयं में और दूसरों में इस क्षमता को जगाने का अर्थ, शिक्षा है।

शिक्षा को स्थायी जीवन-मूल्यों की खोज में हमारी सहायता करनी चाहिए, जिससे कि हम फार्मूलों से ही न चिपके रहें अथवा नारों को ही न दुहराते रहें; उसे राष्ट्रीय और सामाजिक अवरोधों को गौरव देने के स्थान पर, उन्हें तोड़ने में हमारी सहायता करनी चाहिए, क्योंकि वे मानव-मानव के बीच में विरोध उत्पन्न करते हैं। दुर्भाग्य से शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था हमें अधीनस्थ, यंत्रवत् और घोर विचारहीन बना रही है। यद्यपि बौद्धिक रूप से वह हमें जगाती है, परन्तु आन्तरिक रूप से वह हमें अपूर्ण, कुण्ठित और सृजनशीलता से विहीन बनाती है।

जीवन को बिना समन्वित रूप में समझे हमारी व्यक्तिगत तथा सामूहिक समस्याएँ और अधिक गम्भीर और व्यापक ही होती जायेंगी। शिक्षा का लक्ष्य केवल विद्वानों, टेकनीशियनों तथा व्यवसाय की खोज करने वाले लोगों को उत्पन्न करना ही नहीं है; उसका लक्ष्य ऐसे एकीकृत स्त्री एवं पुरुष उत्पन्न करना है जो भय से मुक्त हों; क्योंकि केवल ऐसे ही व्यक्तियों के बीच में स्थायी शांति सम्भव है।

अपने को समझने में ही भय का अन्त होता है। यदि क्षण-क्षण में व्यक्ति को जीवन से सामना करना है, उसकी जटिलताओं, उसके दुखों और उसकी आकस्मिक आवश्यकताओं का सामना करना है, तो उसे अपरिमित रूप से विनम्र होना होगा; सिद्धांतों से तथा विचार के विशेष प्रारूपों से भी मुक्त होना होगा।

शिक्षा का कार्य व्यक्ति को इसके लिए प्रोत्साहित करना नहीं है कि वह समाज के अनुरूप बने और न ही समाज में नकारात्मक सामंजस्यता लाना है। वास्तविक जीवन मूल्यों की खोज में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का कार्य है और ये मूल्य पूर्वाग्रह-विहीन अन्वेषण तथा आत्म-अवधान से ही आते हैं। जब आत्मबोध नहीं होता है तब आत्माभिव्यक्ति अहंकार हो जाती है और उसके साथ उससे तमाम आक्रामक एवं महत्त्वाकांक्षी द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं। शिक्षा का कार्य आत्मावधान की क्षमता को जागृत करना है, न कि तुष्टिकरण वाली आत्माभिव्यक्ति की वासना को अवसर देना।

यदि जीने की प्रक्रिया में हम खुद को ही नष्ट कर रहे हों तो ऐसे ज्ञान से क्या लाभ? चूँकि विनाश उत्पन्न करने वाले युद्ध एक के बाद एक आते जा रहे हैं तो स्पष्ट है कि जिस प्रकार हम बच्चों का पालन-पोषण कर रहे हैं उसमें कोई मौलिक दोष है। मैं समझता हूँ कि हममें से अधिकांश व्यक्ति इस बात से परिचित हैं परन्तु हम नहीं जानते कि हम सामना कैसे करें ?

व्यवस्था-प्रणालियाँ चाहे वे शैक्षिक हों अथवा राजनीतिक, किसी रहस्यमय ढंग से नहीं बदल जातीं; उनमें परिवर्तन तभी होता है जब हमारे अपने अंदर कोई मौलिक परिवर्तन होता है। सबसे पहले व्यक्ति का महत्त्व है, न कि व्यवस्था का और जब तक व्यक्ति स्वयं अपनी समग्र प्रक्रिया को नहीं समझता, कोई भी व्यवस्था, चाहे वह वामपंथी हो अथवा दक्षिणपंथी, विश्व में शांति और व्यवस्था नहीं ला सकतीं।



शिक्षा का सम्यक् रूप

अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है जो विद्वान नहीं है; अज्ञानी व्यक्ति वह है जो स्वयं अपने को नहीं जानता; और इस अवबोध के लिए जब विद्वान व्यक्ति पोथियों, ज्ञान और सत्ता पर निर्भर करता है, तो वह मूढ़ है। अवबोध केवल आत्मज्ञान से आता है, जो कि अपनी समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवधान है। इस प्रकार शिक्षा का वास्तविक अर्थ स्वयं अपने को समझना है, क्योंकि अस्तित्व अपनी सम्पूर्णता में हममें से प्रत्येक में संकलित है।

जिसे हम शिक्षा कहते हैं वह केवल पुस्तकों से सूचनाओं एवं ज्ञान को संकलित करना है और यह कोई भी व्यक्ति जो पढ़ना चाहता है, कर सकता है। ऐसी शिक्षा स्वयं को अपने से पलायन का एक बहुत सूक्ष्म रूप प्रदान करती है, और सभी पलायनों की भाँति वह भी अनिवार्यत: निरंतर बढ़नेवाला कष्ट उत्पन्न करती है। व्यक्तियों, वस्तुओं और विचारों के साथ हमारे अपने दोषपूर्ण सम्बन्धों का परिणाम है द्वन्द्व और व्याकुलता । और जब तक हम उस सम्बन्ध को नहीं समझते हैं तथा उसे नहीं बदलते हैं तब तक मात्र विद्वत्ता अर्थात तथ्यों का संकलन एवं विभिन्न प्रकार की कार्य-कुशलताओं की उपलब्धि हमें केवल निरन्तर बढ़ने वाले विनाश और अराजकता की ओर ही ले जायेगी।

आज जिस रूप में समाज संगठित है उसमें हम अपने बच्चों को स्कूल इसलिए भेजते हैं कि वे कोई ऐसी टेकनीक सीख लें जिससे वे बाद में जीविकोपार्जन कर सकें। हम बालक को सबसे पहले मुख्यत: एक विशेषज्ञ बनाना चाहते हैं इस आशा से कि इससे उसे एक आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित पद उपलब्ध होगा। परन्तु क्या तकनीक का यह संवर्द्धन हमें स्वयं अपने को समझने के योग्य बना सकता है?

पढ़ने-लिखने का ज्ञान होना, इन्जीनियरिंग अथवा कोई अन्य काम सीखना स्पष्ट रूप से आवश्यक है, परन्तु क्या तकनीक हमें जीवन को समझने की क्षमता प्रदान करेगी? निस्सन्देह तकनीक गौण है; परन्तु यदि तकनीक ही वह वस्तु है जिसे प्राप्त करने में हम लगे हैं, तो स्पष्ट है कि जीवन के बहुत बड़े भाग का ही हम निषेध कर रहे हैं।

कष्ट, आनन्द, सौंदर्य, कुरुपता और प्रेम ही जीवन है और जब हम उसे समग्रता से प्रत्येक स्तर पर समझ लेते हैं, तो यह समझना स्वयं अपनी तकनीक उत्पन्न कर लेता है। परन्तु इसका विलोम सत्य नहीं है; तकनीक कभी भी सृजनशील अवबोध नहीं उत्पन्न कर सकती।

आज की शिक्षा पूर्णतया असफल हो गयी है, क्योंकि उसने तकनीक को आवश्यकता से अधिक गौरव दे दिया है। तकनीक को आवश्यकता से अधिक गौरव देने में हम मनुष्य को नष्ट कर देते हैं। जीवन को समझे बिना, विचार और वासना की प्रक्रिया का व्यापक साक्षात्कार किये बिना, क्षमता और कार्य-कुशलता का विकास करना हमें केवल अधिकाधिक निष्ठुर बना देगा, जिससे युद्ध उत्पन्न होंगे और हमारी शारीरिक सुरक्षा भी खतरे में पड़ जायेगी। तकनीक मात्र के संवर्द्धन ने वैज्ञानिकों को, गणितज्ञों को, पुल-निर्माताओं को, अन्तरिक्ष विजेताओं को उत्पन्न किया है; परन्तु क्या वे जीवन की समस्त प्रक्रिया को समझते हैं? क्या कोई विशेषज्ञ जीवन को समग्र रूप में अनुभव कर सकता है? केवल तभी जब वह विशेषज्ञ नहीं रहता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तकनीक की उन्नति एक स्तर पर कुछ लोगों की कुछ प्रकार की समस्याओं का समाधान करती है, परन्तु वह उससे कहीं अधिक गहरी और व्यापक समस्याओं को उत्पन्न भी कर देती है। जीवन की समग्र प्रक्रिया की उपेक्षा कर किसी एक स्तर पर ही हमारे जीवित रहने का अर्थ कष्ट और नाश को निमंत्रण देना है। प्रत्येक व्यक्ति की सबसे बड़ी माँग और सर्वाधिक आसन्न समस्या जीवन की समन्वित समग्रता को प्राप्त करना है, ऐसी समग्रता जो निरन्तर बढ़नेवाली जटिलताओं का सामना करने में उसे सक्षम बना सके।

तकनीक का ज्ञान चाहे कितना भी आवश्यक क्यों न हो वह हमारे आंतरिक, मनोवैज्ञानिक दबावों और द्वन्द्वों का परिहार नहीं कर सकेगा; और चूँकि जीवन की समग्र प्रक्रिया को समझे बिना ही हमने तकनीक का ज्ञान प्राप्त किया है, इसलिए तकनीक आत्मनाश का साधन मात्र बन गयी है। मनुष्य जो परमाणु का विखण्डन करना जानता है, परन्तु उसके हृदय में यदि प्रेम नहीं है, तो वह दानव बन जाता है, हम अपनी क्षमता के अनुसार किसी व्यवसाय को चुनते हैं; परन्तु क्या उस व्यवसाय का अनुगमन करने से हम द्वन्द्व और दुर्व्यवस्था से मुक्ति पा सकेंगे? यह ठीक है कि किसी-न-किसी रूप में तकनीक का प्रशिक्षण आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु जब हम इंजीनियर, डाक्टर, एकाउण्टेण्ट बन गये तो फिर

उसके बाद क्या? किसी व्यवसाय का कार्य ही क्या जीवन की पूर्णता है? सामान्यत: इसमें से अधिकांश के लिए ऐसा ही है। हमारे विभिन्न व्यवसाय हमारे अस्तित्व के अधिकांश भाग में हमको व्यस्त रखते हैं; परन्तु वही वस्तुएँ जिन्हें हम उत्पन्न करते हैं और जिनसे हम इतने अधिक अभिभूत हैं, विनाश और कष्ट का कारण बन रही हैं। हमारी अभिवृत्तियाँ और हमारे जीवन-मूल्य ही वस्तुओं और व्यवसायों को द्वेष, कटुता और घृणा का साधन बनाते हैं।

बिना अपने को समझे केवल किसी व्यवसाय के कार्य से कुण्ठा उत्पन्न होती है और उससे बचने के लिए अनिवार्यत: हम अनेक प्रकार की नित्य क्रियाओं द्वारा पलायन करते हैं। बोध के अभाव में तकनीक हमें शत्रुता और क्रूरता की ओर ले जाती है, यद्यपि उसे हम कर्णप्रिय मुहावरों के आवरण से ढके रहते हैं। तकनीक को गौरव देने और हमारे कार्य-कुशल बन जाने का महत्त्व ही क्या है, यदि उसका परिणाम परस्पर विनाश ही होना है? हमारी तकनीकी उन्नति अद्‌भुत है, परन्तु इसने केवल एक-दूसरे को नष्ट करने की हमारी शक्ति में ही वृद्धि की है और सभी देशों में भुखमरी और कष्ट है। हम शांत और सुखी लोग नहीं हैं।

जब कामकाज ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है तो जीवन स्फूर्तिविहीन और उबानेवाला बन जाता है; दिनचर्या इतनी यंत्रवत तथा नीरस हो जाती है कि उससे पलायन के लिए हम किसी-न-किसी प्रकार के मनोविलास की ओर दौड़ते हैं। तथ्यों के संग्रह ने तथा कार्य-कुशलता के संवर्द्धन ने, जिसे हम शिक्षा कहते हैं, हमसे समन्वित जीवन और क्रिया की पूर्णता को छीन लिया है। चूँकि हम जीवन की समग्र प्रक्रिया को नहीं समझते; अत: हम योग्यता और कार्यक्षमता से चिपके रहते हैं और ये अत्यधिक महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। परन्तु किसी समग्रता को उसके अवयव द्वारा नहीं समझा जा सकता; उसको केवल क्रिया तथा अनुभव के द्वारा ही समझा जा सकता है।

तकनीक के संवर्द्धन का एक दूसरा कारण यह भी है कि वह हमें एक सुरक्षा का भाव प्रदान करती है, केवल आर्थिक सुरक्षा ही नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक सुरक्षा भी— हम सक्षम हैं और हम कुशल हैं— यह जानकर मनुष्य के अन्दर पुनर्विश्वास बना रहता है। यह ज्ञान कि हम पियानों बजा सकते हैं अथवा एक मकान का निर्माण कर सकते हैं, हमें शक्ति एवं आक्रामक स्वतंत्रता का भाव प्रदान करता है; परन्तु मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की आकांक्षा के कारण कार्य-कुशलता को गौरव प्रदान करना वस्तुत: जीवन की समग्रता का निषेध करना है। जीवन की समग्र

विषय-वस्तु को पहले से कदापि नहीं देखा जा सकता; उसका क्षण-क्षण पुनः-पुनः नवीन अनुभव करना पड़ता है। परन्तु हम 'अज्ञात' से भयभीत रहते हैं और इसलिए प्रणालियों, तकनीकों तथा विश्वासों के रूप में हम अपने लिए सुरक्षा के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र स्थापित करते हैं। जब तक हम आंतरिक सुरक्षा की खोज कर रहे होते हैं, तब तक जीवन की समग्र प्रक्रिया को हम नहीं समझ सकते।

सम्यक् शिक्षा को किसी तकनीक के ज्ञान को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ कुछ ऐसा भी करना चाहिए जो कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो; उसे जीवन की समन्वित प्रक्रिया का अनुभव करने में भी मनुष्य की सहायता करनी चाहिए। यही वह अनुभव है जो क्षमता और तकनीक को उसका उचित स्थान देगा। यदि किसी व्यक्ति के पास वास्तव में कुछ है जिसे वह अभिव्यक्त करना चाहता है तो उसकी अभिव्यक्ति ही अपनी शैली का सृजन कर लेगी; परन्तु आन्तरिक अनुभव के अभाव में किसी शैली को सीखना मात्र हमें केवल एक छिछलेपन की ओर ले जायेगा।

सारे संसार में इंजीनियर ऐसे यन्त्रों के निर्माण में लगे हैं जिनको चलाने के लिए मनुष्य की आवश्यकता ही नहीं है। यदि जीवन लगभग पूर्णतया यन्त्रों द्वारा ही चलेगा तो मनुष्यों का क्या होगा? हमारे पास अधिकाधिक विश्राम का ही समय होगा, परन्तु हम यह नहीं जानते होंगे कि उसका कैसे बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग किया जाय। और हम ज्ञान के द्वारा, निरन्तर दुर्बल बनाने वाले मनोविनोदों के द्वारा अथवा किन्हीं आदर्शों के द्वारा पलायन की खोज करेंगे।

मैं समझता हूँ कि शैक्षिक आदर्शों के विषय में ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे गये हैं। परन्तु हम पहले से भी कहीं अधिक भ्रांति में हैं। कोई ऐसी पद्धति नहीं है जिसके द्वारा बालक को समन्वित एवं मुक्त होने के लिए शिक्षित किया जा सके। जब तक हम सिद्धान्तों, आदर्शों और पद्धतियों के प्रति चिन्तित हैं, तब तक हम व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकते कि वह आत्म-केन्द्रित क्रिया से, अपने भयों और द्वन्द्वों से, मुक्त हो सके।

आदर्श अथवा यूटोपिया (काल्पनिक स्वर्ग-राज्य) की कोई भी रूपरेखा कभी भी हृदय का मौलिक परिवर्तन नहीं कर सकेगी, और यदि युद्ध तथा सार्वत्रिक विनाश का अन्त होना है तो यह परिवर्तन अनिवार्य है। आदर्श हमारे वर्तमान जीवन-मूल्यों को परिवर्तित नहीं कर सकते; यह परिवर्तन उनमें उचित प्रकार की शिक्षा से ही हो सकता है और जो वास्तविकता है उसके अवबोध का पोषण ही यह शिक्षा है।

जब हम किसी आदर्श के लिए, किसी भविष्य के लिए, एक साथ काम करते हैं तब हम उस भविष्य की अपनी अवधारणा के ही अनुसार व्यक्तियों को रूप प्रदान करते हैं; हमें मनुष्यों की चिन्ता होती ही नहीं, हमें केवल चिन्ता होती है अपनी अवधारणा की कि उन्हें क्या होना चाहिए। जो वास्तव में 'है' अर्थात व्यक्ति और उसकी जटिलताएँ, उसकी चिन्ता हमें नहीं होती, बल्कि जो 'होना चाहिए' वह हमारे लिए कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यदि हम व्यक्ति को अपरोक्ष रूप से समझना प्रारम्भ कर दें अपेक्षाकृत उस आवरण के द्वारा कि 'उसे कैसा होना चाहिए', तो वास्तविकता पर ही हमारा ध्यान रहेगा। तब हम व्यक्ति को किसी दूसरी वस्तु में बदलने की इच्छा नहीं करते; तब हमारी केवल यही चिन्ता होती है कि अपने को समझने में हम उसकी सहायता करें और इसमें कोई व्यक्तिगत लाभ या स्वार्थ नहीं होता। यदि 'जो है' उसके प्रति हमारा पूर्ण अवधान है तो उसे हम समझ लेंगे और उससे मुक्त हो जायेंगे; परन्तु 'जो हम है' उसके प्रति जागरुक होने के लिए हमें उस संघर्ष का अन्त करना पड़ेगा जिसे हम किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए करते हैं 'जो हम नहीं हैं।'

आदर्शों का शिक्षा में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे 'वर्तमान' के अवबोध में बाधक बनते हैं। जो वास्तविकता है उसके प्रति निस्संदेह हम तभी जागरुक हो सकते हैं जब हम भविष्य में पलायन नहीं करते। भविष्य की ओर देखना या किसी आदर्श के लिए संघर्षशील होना, इसका सूचक है कि हम वर्तमान से बचना चाहते हैं तथा हमारा मन स्फूर्तिविहीन है।

एक पूर्व-कल्पित यूटोपिया (काल्पनिक स्वर्गराज्य) की खोज क्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके समन्वित जीवन का निषेध नहीं है? जब व्यक्ति किसी आदर्श का, किसी नमूने का, अनुगमन कर रहा है, या जब उसके पास एक सूत्र है कि उसे क्या होना चाहिए, तो क्या वह व्यक्ति अत्यन्त छिछला एवं यंत्रवत् जीवन नहीं जी रहा? हमें आदर्शवादियों की अथवा यांत्रिक मन से भरे व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं है, बल्कि आवश्यकता हमें ऐसे समन्वित व्यक्तियों की है जो प्रज्ञावान और स्वतन्त्र हैं। परिपूर्ण समाज की कल्पना का कोई विशेष प्रारूप उपलब्ध करने के प्रयत्न का झगड़ा करने तथा रक्त बहाने में अन्त होता है; क्योंकि 'क्या होना चाहिए' प्रमुख हो जाता है और 'क्या है' की उपेक्षा होती है।

यदि मनुष्य यांत्रिक इकाइयाँ अर्थात स्वचालित यंत्र ही होता तो भविष्य की पूर्व-घोषणा की जा सकती थी और एक सम्पूर्ण यूटोपिया की योजना बनायी जा सकती थी; उस अवस्था में हम सावधानी से एक भविष्य के समाज की योजना बना सकते थे और उसके लिए कार्य कर सकते थे; परन्तु मनुष्य यंत्र नहीं है कि उसको एक निश्चित प्रारूप के अनुसार स्थापित किया जा सके।

वर्तमान और भविष्य के बीच एक बहुत बड़ी दूरी है और उस दूरी के बीच हममें से प्रत्येक पर अनेक प्रकार के प्रभाव कार्य कर रहे हैं। तो उस भविष्य के लिए वर्तमान का बलिदान करने में हम एक सम्भाव्य उचित साध्य के लिए अनुचित साधन का अनुशीलन करते हैं। परन्तु साधन साध्य को निर्धारित करता है। यही नहीं, आखिर हम होते ही कौन हैं कि हम यह निश्चय करें कि मनुष्य को क्या होना चाहिए? किस अधिकार से हम उसे एक विशेष प्रारूप में ढालने का प्रयत्न करते हैं— वह प्रारूप जिसे हमने किसी पुस्तक से सीखा है अथवा जो हमारी महत्त्वाकांक्षाओं, आशाओं और भयों द्वारा निर्धारित है?

उचित प्रकार की शिक्षा का किसी विचार-सिद्धान्त से लगाव नहीं होता, वह विचार-सिद्धान्त चाहे जितना भी भविष्य के यूटोपिया की आशा दिलाता हो; उचित शिक्षा किसी व्यवस्था पर भी आधारित नहीं है, चाहे कितनी भी वह व्यवस्था सावधानी से बनायी गयी हो। इसी प्रकार उचित शिक्षा व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार से प्रतिबद्ध करने का साधन भी नहीं है। शिक्षा का सही अर्थ व्यक्ति के परिपक्व तथा मुक्त होने में, प्रेम तथा अच्छाई में, अधिकाधिक पुष्पित होने में, सहायता करना है। इसी में हमारी रुचि होनी चाहिए, न कि बालक को किसी आदर्शवादी नमूनों के साँचे में ढालने में।

ऐसी कोई भी प्रणाली, जो बालकों को उसके स्वभाव और अभिरुचि के आधार पर वर्गीकृत करती है, केवल उनकी भिन्नता को ही गौरव प्रदान करती है; वह बैरभाव उत्पन्न करती है, समाज में विभाजन को प्रोत्साहित करती है; समन्वित मनुष्यों के विकास में वह सहायक नहीं सिद्ध होती। यह स्पष्ट है कि कोई भी पद्धति अथवा व्यवस्था-प्रणाली सम्यक शिक्षा नहीं प्रदान कर सकती और यदि कोई शिक्षक कठोरता से किसी विशेष पद्धति का पालन करता है तो स्पष्ट है कि वह स्फूर्तिविहीन है। जब तक शिक्षा बने-बनाये सिद्धान्तों पर आधारित है तब तक यद्यपि वह ऐसे स्त्री और पुरुष का निर्माण कर सकती है जो कार्य-कुशल हों, परन्तु वह सृजनशील मनुष्यों को नहीं उत्पन्न कर सकती।

दूसरों को समझना केवल प्रेम द्वारा ही सम्भव होता है, जहाँ प्रेम होता है वहाँ तत्क्षण ही एक ही स्तर और एक ही काल में परस्पर संवाद हो जाता है। हम अत्यन्त नीरस, खोखले तथा प्रेमविहीन हैं और इसीलिए अपने बच्चों की शिक्षा का तथा अपने जीवन के मार्ग-निर्देशन का अधिकार सरकारों और व्यवस्था-प्रणालियों को सौंप दिया है; परन्तु सरकारों को तो कार्यक्षम, टेक्नीशियन चाहिए न कि मनुष्य, क्योंकि मनुष्य सरकारों के लिए और संगठित धर्म-सम्प्रदायों के लिए भी खतरनाक हो जाते हैं। यही कारण है कि सरकारें और धार्मिक सम्प्रदाय शिक्षा पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करते हैं।

जीवन को ऐसा नहीं बनाया जा सकता कि वह किसी व्यवस्था के अनुरूप हो जाय; उसे किसी साँचे में ढलने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, वह साँचा चाहे कितना भी आदर्शवादी ढंग से सोचा गया हो। एक मन जिसे केवल तथ्यों से सम्बन्धित ज्ञान में प्रशिक्षित किया गया है, ऐसा मन जीवन का उसकी विविधता में, उसकी सूक्ष्मता में, उसकी गहराइयों तथा उसकी महान ऊँचाइयों में, सामना करने में असमर्थ होता है। जब हम किसी विचार-व्यवस्था अथवा किसी विशेष अनुशासन के अनुसार अपने बच्चों को प्रशिक्षित करते हैं, जब हम उन्हें सिखाते हैं कि वे विभागीय विभाजनों की परिधि में ही सोचें तब हम समन्वित स्त्री और पुरुष के रूप में उनके विकास में बाधक बनते हैं और इस प्रकार उनमें बुद्धिपूर्वक विचार करने की क्षमता नहीं रह जाती— बुद्धिपूर्वक विचार करने का अर्थ है समग्र जीवन का साक्षात्कार।

शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य एक ऐसे समन्वित व्यक्ति को उत्पन्न करना है जो जीवन का उसकी समग्रता में साक्षात्कार करे। एक विशेषज्ञ की भाँति ही आदर्शवादी व्यक्ति को भी समग्रता से लगाव नहीं होता, उसका सम्बन्ध केवल अंश से ही होता है। जब तक व्यक्ति कर्म के किसी आदर्श प्रारूप का अनुशीलन कर रहा है तब तक उसके लिए समन्वित होना संभव नहीं है; और अधिकांश अध्यापक, जो आदर्शवादी होते हैं, प्रेम को उठाकर एक ओर रख देते हैं; उनका मन नीरस तथा हृदय कठोर होता है। यदि हमें किसी बालक का अध्ययन करना हो तो यह आवश्यक है कि हम सजग, सावधान और आत्म-सचेत हों और इसके लिए अपार बुद्धि और प्रेम की आवश्यकता है, न कि उसे किसी आदर्श का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित करने की।

शिक्षा का दूसरा कार्य नवीन मूल्यों का सृजन करना है। बालक के मन में केवल प्रचलित मूल्यों को आरोपित करना एवं उसको आदर्शों के अनुकूल बनाना उसे प्रतिबद्ध करना है और इससे उसकी सम्यक बुद्धि जागृत नहीं होगी। शिक्षा का वर्तमान विश्व-संकट से घनिष्ट सम्बन्ध है और उस शिक्षक को जो इस वैश्विक दुर्व्यवस्था को देखता है अपने से यह प्रश्न करना चाहिए कि छात्र में इस बुद्धि को कैसे जगाया जाय और इस प्रकार, आनेवाली पीढ़ी को और अधिक द्वन्द्व तथा विनाश उत्पन्न करने से कैसे रोका जाय? शिक्षक को उचित प्रकार के परिवेश का सृजन करने में तथा जीवन-बोध का विकास करने में अपनी समस्त विचार-क्रिया, समस्त सावधानियाँ तथा अपने समस्त प्रेम को लगा देना चाहिए जिससे कि वह बच्चा परिपक्व हो, वह उस मानवी समस्याओं का विवेकपूर्ण ढंग से सामना कर सके। परन्तु ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक विचार-प्रणालियों, व्यवस्थाओं और विश्वासों पर निर्भर रहने की अपेक्षा स्वयं अपने को समझे।

सिद्धान्तों और आदर्शों की भाषा में सोचना छोड़कर हमारा सम्बन्ध वस्तुओं के उस वास्तविक रूप से होना चाहिए जैसे कि वे हैं; क्योंकि जो वास्तविकता है उसी पर विचार करना सम्यक् बुद्धि को जागृत करना है, और शिक्षक की सम्यक् बुद्धि शिक्षा-सम्बन्धी किसी नई प्रणाली के उसके ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब कोई व्यक्ति किसी प्रणाली का अनुगमन करता है, चाहे वह प्रणाली कितने ही बुद्धिमान तथा विचारवान व्यक्ति द्वारा बनायी गयी हो, तो स्वयं प्रणाली ही बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है और बच्चे वहीं तक महत्त्वपूर्ण रहते हैं जहाँ तक वे उसके प्रारूप में ठीक बैठते हैं। अध्यापक बालक की नाप-जोख करता है, उसे वर्गीकृत करता है और तब किसी चार्ट के अनुसार उसे शिक्षित करना आरम्भ करता है। शिक्षण की यह प्रक्रिया किसी अध्यापक के लिए सुविधाजनक हो सकती है; परन्तु न तो इस प्रकार की किसी व्यवस्था-प्रणाली का अभ्यास ही और न विद्वत्ता एवं विशेषज्ञ-सम्मति की बाध्यता ही ऐसे मानव के समन्वित विकास को सम्भव बना सकती है।

'बच्चों को क्या होना चाहिए' इस आदर्श के आरोपण के बिना बच्चे द्वारा पूर्ण अध्ययन ही उचित शिक्षा है। किसी आदर्श के चौखटे में उसे बन्द करना उसके अनुरूप बनने के लिए प्रोत्साहित करना है; यह भय को तथा 'वह क्या है' और

उसे 'क्या होना चाहिए' के अनवरत संघर्ष को उत्पन्न करता है। इन सभी आंतरिक द्वन्द्वों की अपनी बाह्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं जो समाज में प्रकट होती हैं। आदर्श वास्तव में वे बाधायें हैं जिनके कारण हम बच्चों को नहीं समझ पाते हैं और न तो बच्चा ही स्वयं अपने को समझ पाता है।

कोई अभिभावक यदि अपने बालक को वास्तव में समझने की इच्छा रखेगा है, तो वह उसे किसी आदर्श के आवरण के माध्यम से नहीं देखेगा । बालक से प्रेम करते हुए, जब वह उसका अवलोकन करता है, उसकी अभिवृत्तियों का, उसकी मनोदशाओं अथवा विशेषताओं का अध्ययन करता है। जब व्यक्ति को बालक से प्रेम नहीं होता है तभी वह उसके ऊपर किसी आदर्श को आरोपित करता है, क्योंकि तब उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ बालक के माध्यम से अपने तुष्टीकरण का प्रयत्न करती हैं और उसे 'यह' अथवा 'वह' बनाना चाहती हैं। यदि व्यक्ति बालक से प्रेम करता है, न कि आदर्श से, तो इस बात की सम्भावना होती है कि वह बालक को, स्वयं अपने को समझने में उसकी सहायता कर सके।

उदाहरणार्थ यदि कोई बालक झूठ बोलता है तो उसके सामने सत्य का आदर्श रखने से क्या लाभ? यह पता लगाना होता है कि वह झूठ क्यों बोल रहा है। यदि बालक की सहायता करनी है तो हमें उसका अध्ययन एवं अन्वीक्षण करने का हमारे पास समय होना चाहिए और उसके लिए धैर्य, प्रेम तथा सावधानी की आवश्यकता होती है; परन्तु जब प्रेम नहीं है, तो बालक को कार्य-प्रक्रिया के किसी ऐसे साँचे में ढलने के लिए बाध्य किया जाता है जिसे हम एक आदर्श कहते हैं।

सभी आदर्श एक सुविधाजनक पलायन हैं और वह अध्यापक जो उनका अनुगमन करता है वह अपने छात्रों को समझने की क्षमता नहीं रखता एवं उनसे बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार नहीं करता; उसके लिए भविष्य का आदर्श 'क्या होना चाहिए' वर्तमान बालक से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आदर्श का अनुशीलन प्रेम का बहिष्कार है और प्रेम के बिना किसी भी मानवीय समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

यदि अध्यापक सही ढंग का है तो वह किसी प्रणाली पर निर्भर नहीं रहेगा, वरन् अपने प्रत्येक शिष्य का अध्ययन करेगा। जब हम बच्चों या युवा लोगों के सम्पर्क में आते हैं तो हमें समझना चाहिए कि हम किसी ऐसी संरचना के साथ

व्यवहार नहीं कर रहे हैं जिसकी हम जल्दी से मरम्मत कर उसे ठीक कर सकते हों, वरन् ऐसे जीवित प्राणियों से व्यवहार कर रहे हैं जिनको आसानी से प्रभावित किया जा सकता है, जो चंचल और संवेदनशील हैं, जो भय और प्रेम से परिपूर्ण हैं। उनके साथ व्यवहार करने में हमें अत्यधिक समझ, धैर्य और प्रेम की एक बड़ी शक्ति की आवश्यकता है। जब हममें इसका अभाव होता है, तब हम सरल तथा तत्काल लाभ देने वाले उपाय खोजते हैं और आशा करते हैं कि उनसे अद्‌भुत और स्वतः प्रेरित परिणाम निकलेंगे। यदि हम अवधान रहित हैं, अपनी अभिवृत्तियों और कार्यों में यंत्रवत हैं, तब हम प्रत्येक ऐसी समस्या का सामना करने से बचते हैं जो हमें परेशान करती है और जिसका किसी यांत्रिक अनुक्रिया से समाधान नहीं किया जा सकता। और यही हमारी शिक्षा की एक बहुत बड़ी कठिनाई है।

बालक अतीत और वर्तमान दोनों का ही परिणाम है और इसलिए पहले से ही संस्कारबद्ध है। यदि हम अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बालक के व्यक्तित्व में उतारते हैं तो हम स्वयं अपनी और बालक, दोनों की संस्कारबद्धता को स्थायी रखते हैं। मौलिक परिवर्तन तभी संभव है जब हम स्वयं अपनी संस्कारबद्धता को समझें और उससे मुक्त हों। जब हम स्वयं संस्कारबद्ध हैं तो इस पर वार्ता करना कि सम्यक् शिक्षा क्या है, पूर्णतया निरर्थक है।

जब बच्चे छोटे हैं तो हमें निस्संदेह इसका ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें कोई शारीरिक चोट न लगे और वे शारीरिक दृष्टि से अपने को असुरक्षित भी अनुभव न करें। परन्तु दुर्भाग्य से हम यही नहीं देखते; हम उनके विचार के तरीकों को तथा उनकी भावना को स्वरूप प्रदान करना चाहते हैं, अपनी वासनाओं और अभिप्रायों के अनुसार हम उन्हें किसी साँचे में ढालना चाहते हैं। हम अपने बच्चों में अपना परितोष चाहते हैं; उनके माध्यम से अपने को बनाये रखना चाहते हैं। उनके चारों ओर हम दीवारें खड़ी करते हैं, अपने विश्वासों और विचार-प्रणालियों के द्वारा, आशंकाओं और आशाओं के द्वारा उन्हें संस्कारबद्ध करते हैं— और तब जब युद्धों में वे मरते हैं अथवा घायल होते हैं, अथवा दूसरे प्रकार के जीवन के अनुभवों में कष्ट उठाते हैं, तब हम रोते हैं एवं ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

ऐसे अनुभव मुक्ति नहीं लाते; बल्कि वे आत्म-स्वार्थ को और दृढ़ करते हैं। 'स्व' तो सुरक्षात्मक और विस्तारक प्रतिक्रियाओं की शृंखलाओं से निर्मित है और उसको अपने प्रक्षेपणों तथा तुष्टि करने वाले तादात्मीकरण में ही सदा परितोष

मिलता है। जब तक अनुभव को हम 'स्व' तथा 'मैं' और 'मेरे' की भाषा में समझते हैं, जब तक 'मैं' अर्थात् अहं अपने को अपनी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से सुरक्षित रखता है तब तक अनुभव को द्वन्द्व, भ्रान्ति और कष्ट से मुक्त नहीं किया जा सकता। मुक्ति तभी सम्भव होती है जब व्यक्ति 'स्व' को अर्थात अनुभवकर्त्ता की प्रक्रिया को समझता है। स्व अपनी संकलित प्रतिक्रियाओं के साथ जब अनुभवकर्त्ता नहीं होता, केवल तभी अनुभव एक पूर्णतया विलक्षण महत्त्व प्राप्त कर लेता है और सृजनशीलता बन जाती है।

यदि हम स्व की प्रक्रिया, जो अधिक पीड़ा का कारण होती है, उससे मुक्त होने में बच्चे की सहायता करना चाहते हैं, तो हममें से प्रत्येक को बच्चे के प्रति अपने सम्बन्ध और अभिवृत्तियों को गहराई से बदलने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। अभिभावक एवं शिक्षक स्वयं अपने विचार और व्यवहार के द्वारा बच्चे के मुक्त होने में तथा प्रेम और अच्छाई में उन्हें पुष्पित होने में सहायता कर सकते हैं।

व्यक्ति को वंशानुक्रमित अभिवृत्तियाँ तथा परिवेश-सम्बन्धी प्रभाव उसके मन तथा हृदय को संस्कारबद्ध किये रहते हैं, परन्तु शिक्षा का जो वर्तमान स्वरूप है वह उन्हें समझने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता और भय को बनाये रखता है। इसलिए वर्तमान शिक्षा इन प्रतिबद्धताओं को तोड़ने में तथा समन्वित मनुष्य के विकास में हमारी सहायता नहीं करती। जिस शिक्षा का सम्बन्ध केवल मनुष्य के किसी अंश से है, न कि सम्पूर्ण मनुष्य से, वह अनिवार्यत: द्वन्द्व और कष्ट में वृद्धि ही करेगी।

केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में ही प्रेम और अच्छाई प्रस्फुटित हो सकते हैं और स्वतन्त्रता केवल उचित प्रकार की शिक्षा ही दे सकती है। वर्तमान समाज से अनुरूपता तथा भविष्य के किसी यूटोपिया की आशा, दोनों में से कोई भी, व्यक्ति को वह दृष्टि नहीं प्रदान कर सकते जिसके अभाव में वह निरन्तर समस्याओं को उत्पन्न कर रहा है।

स्वतन्त्रता के इस आन्तरिक स्वरूप को समझ कर एक सही शिक्षक प्रत्येक छात्र की सहायता करता है जिससे कि वह स्वयं भी अपने आत्मप्रक्षिप्त मूल्यों तथा आरोपणों को देख सके एवं उन्हें समझ सके; जिससे कि वह अपने चारों ओर के संस्कारबद्ध करने वाले प्रभावों के प्रति और स्वयं अपनी वासनाओं के

प्रति जागरूक हो सके। ये दोनों ही उसके मन को परिसीमित करते हैं तथा भय उत्पन्न करते हैं। जैसे-जैसे बच्चा परिपक्व मनुष्य के रूप में विकसित होता जाता है शिक्षक उसकी सहायता करता है कि वह सभी वस्तुओं के साथ अपने सम्बन्ध के बीच अपना निरीक्षण करे तथा अपने को समझे, क्योंकि आत्म-परितोष की वासना ही एक अन्तहीन द्वन्द्व एवं दुख का कारण है।

बिना किसी संस्कारबद्धता के जीवन के शाश्वत मूल्यों के साक्षात्कार किये बिना, निस्संदेह व्यक्ति की सहायता करना असम्भव है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि व्यक्ति का ऐसा समग्र विकास दुर्व्यवस्था उत्पन्न करेगा। परन्तु क्या ऐसा होगा? विश्व में पहले से ही तमाम भ्रान्तियाँ हैं और यह इसी से उत्पन्न हुई हैं कि व्यक्ति को आत्मबोध की शिक्षा नहीं दी गई। यदि एक ओर उसे कुछ छिछली स्वतन्त्रता दी भी गई है तो साथ ही उसे यह भी सिखाया गया है कि प्रचलित जीवन-मूल्यों के अनुकूल कैसे बना जाय, उन्हें कैसे स्वीकार किया जाय।

इस नियन्त्रण के विरोध में अनेक लोग विद्रोह कर रहे हैं, परन्तु दुर्भाग्य से उनका विद्रोह केवल आत्म-परितोष की प्रतिक्रिया मात्र है, जो हमारे अस्तित्व को और भी अधिक अन्धकार पूर्ण बना देता है। उचित प्रकार का शिक्षक मन की प्रतिक्रियाशील प्रवृत्ति के प्रति जागरूक रहता है और वह प्रचलित मूल्यों को बदलने में छात्र की सहायता करता है, उन मूल्यों के विद्रोह के रूप में नहीं, प्रत्युत जीवन की समग्र प्रक्रिया के परिज्ञान के रूप में। उस एकीकरण के अभाव में, जिसको व्यक्ति में जागृत करने में सही शिक्षा ही सहायक बन सकती है, मनुष्य एवं मनुष्य के बीच पूर्ण सहयोग सम्भव नहीं है।

हमारा यह निश्चित विश्वास क्यों है कि न तो हम और न तो आनेवाली पीढ़ी ही उचित शिक्षा के द्वारा मानव-सम्बन्ध में कोई मौलिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है? क्योंकि हमने कभी उसके लिए प्रयत्न नहीं किया है; और चूँकि हममें से अधिकांश उचित प्रकार की शिक्षा के प्रति भयभीत प्रतीत होते हैं, इसलिए हमारे अन्दर उसके प्रयोग करने के प्रति कोई अभिरुचि भी नहीं रहती। इस सारे प्रश्न का वास्तव में अध्ययन किये बिना ही हम यह दावा करते हैं कि मानव स्वभाव को बदला नहीं जा सकता; हम वस्तुओं को जैसी वे हैं, स्वीकार कर लेते हैं और बालक को प्रोत्साहित करते हैं कि वह वर्तमान समाज के अनुकूल अपने को बनाये; जीवन के अपने प्रचलित तरीकों के प्रति हम बच्चे

को संस्कारबद्ध करते हैं और तब अच्छे परिणाम की आशा करते हैं। परन्तु क्या प्रचलित मूल्यों के अनुसरण को शिक्षा कहा जा सकता है, जिन्होंने युद्ध और भूख को उत्पन्न किया है।

हमें अपने को धोखा नहीं देना चाहिए कि यह संस्कारबद्धता कभी सम्यक् बुद्धि एवं सुख उत्पन्न करने जा रही है। यदि हम भयभीत हैं, प्रेम से रहित हैं, अत्यधिक उदासीन हैं तो इसका यही अर्थ है कि हमें व्यक्ति को इसके लिए प्रोत्साहित करने में वास्तव में कोई रुचि है ही नहीं कि उसमें प्रेम और अच्छाई अधिकाधिक पुष्पित हो; हम यही पसन्द करते हैं कि वह उन्हीं कष्टों को बनाये रखे जिनके बोझ से हम पीड़ित हैं और वह भी जिनका एक अंग है।

छात्र को वर्तमान परिवेश को स्वीकार करने के लिए संस्कारबद्ध करना स्पष्टतया मूर्खतापूर्ण है। जब तक हम स्वेच्छा से शिक्षा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं उत्पन्न करते तब तक दुर्व्यवस्था और कष्ट को बनाये रखने के लिए अपरोक्ष रूप से हम ही जिम्मेदार हैं; और ऐसी अवस्था में यदि अन्त में जब कोई भयानक एवं क्रूर क्रान्ति आयेगी तो वह मनुष्यों के दूसरे वर्ग को अवसर देगी कि वे निष्ठुर बनें और शोषण करें। प्रत्येक सत्ताधारी वर्ग शोषण के अपने साधनों का विकास कर लेता है चाहे वह शोषण मनोवैज्ञानिक दबाव द्वारा हो अथवा नग्न शक्ति-प्रदर्शन द्वारा।

राजनीतिक और औद्योगिक कारणों से वर्तमान सामाजिक संरचना में अनुशासन एक महत्त्वपूर्ण कारण बन गया है, और चूँकि हमारे अन्दर मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की वासना है, अनुशासन से निश्चय ही एक परिणाम निकलता है और हमारे लिए साध्य ही साधन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है; परन्तु साधन ही है जो साध्य के स्वरूप को निर्धारित करता है।

अनुशासन के अनेक खतरों में से एक खतरा यह है कि उसमें मनुष्यों की अपेक्षा व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत वे घिरे होते हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। तब अनुशासन प्रेम का स्थान ले लेता है और चूँकि हमारे हृदय खोखले होते हैं इसलिए हम अनुशासन से चिपके रहते हैं। स्वतन्त्रता कभी भी अनुशासन अथवा प्रतिरोध के माध्यम से नहीं आ सकती, स्वतन्त्रता कोई लक्ष्य, कोई साध्य नहीं है, जिसे उपलब्ध करना है। स्वतन्त्रता तो आरम्भ में है न कि अन्त में, उसे किसी दूर भविष्य के आदर्श में नहीं प्राप्त किया जाना है।

स्वतन्त्रता का अर्थ न तो आत्म-परितोष के लिए अवसर की खोज है और न तो दूसरों के प्रति ख्याल की अपेक्षा। एक निष्ठावान अध्यापक बच्चों की सुरक्षा का ध्यान रखता है और उनकी सहायता करता है कि वे सभी सम्भव तरीकों से उचित प्रकार की स्वतन्त्रता के प्रति बढ़े। परन्तु यदि वह स्वयं किसी विचार-प्रणाली का आदी है, यदि वह स्वयं किसी प्रकार से रूढ़िवादी है अथवा आत्म-परितोष में लगा है तो उसके लिए ऐसा करना सम्भव न होगा।

संवेदनशीलता को बाध्यता के माध्यम से कभी नहीं जागृत किया जा सकता। हम एक बच्चे को बाध्य कर सकते हैं कि वह बाहर से शान्त रहे, परन्तु इसका अर्थ यह है कि हमने उस तत्व का सामना नहीं किया जो उसे जिद्दी, उद्दंड आदि बना रहा है। बाध्यता ही विरोध तथा भय उत्पन्न करती है। किसी भी प्रकार का पुरस्कार अथवा दण्ड, मन को उदास तथा स्फूर्ति-विहीन बनाता है और यदि हम चाहते हैं तो बाध्य करके दी जानेवाली शिक्षा ही सर्वोत्तम विधि है और इसी को हमें आगे बढ़ाना चाहिए।

परन्तु ऐसी शिक्षा बालक को समझने में हमारी सहायता नहीं कर सकती, न वह एक उचित सामाजिक परिवेश का निर्माण कर सकती है, ऐसा परिवेश जिसमें विघटनवाद और घृणा का अस्तित्व ही न हो। बच्चे के प्रति प्रेम में ही, सही शिक्षा निहित है। परन्तु हममें से अधिकांश अपने बच्चों से प्रेम नहीं करते; हम उनके प्रति महत्त्वाकांक्षी हैं— जिसका अर्थ है कि हम स्वयं अपने लिए महत्त्वाकांक्षी हैं। दुर्भाग्य से हम मन के कार्य-कलापों में इतने व्यस्त हैं कि हमारे पास हृदय के प्रबोधनों के लिए बहुत कम समय है। आखिर, अनुशासन केवल हमारे चारों ओर दीवारें ही खड़ी कर सकता है; वह सदा निषेधात्मक होता है, सदा द्वन्द्व उत्पन्न करता है। अनुशासन अवबोध के लिए कोई अनुकूलता नहीं उत्पन्न करता; क्योंकि अवबोध अन्वीक्षण से आता है, उस अन्वीक्षण से आता है जिसमें सभी पूर्वाग्रहों को समाप्त कर दिया जाता है।

अनुशासन बच्चे को नियंत्रित करने का एक सरल उपाय है, परन्तु वह उन समस्याओं को समझने में बच्चे की सहायता नहीं करता जो जीवन में निहित होती हैं। बाध्यता के कुछ रूप अर्थात दण्ड और पुरस्कार का अनुशासन यद्यपि किसी कक्षा में अधिक संख्या में छात्रों को एक साथ रखने के लिए आवश्यक व्यवस्था तथा दिखावटी शांति स्थापित करने में उपयोगी हो सकता है; परन्तु यदि कोई सच्चा अध्यापक हो और उसके छात्रों की संख्या कम हो तो क्या उस उत्पीड़न की, जिसे

विनम्रता से अनुशासन कहा जाता है, आवश्यकता होगी? यदि कक्षाएँ छोटी हैं और यदि अध्यापक प्रत्येक छात्र का निरीक्षण करते हुए तथा उसकी सहायता करते हुए उस पर अपना पूरा ध्यान दे देगा तो किसी भी प्रकार की बाध्यता अथवा प्रभुत्व उसके लिए अनावश्यक होगा। यदि ऐसे समूह में कोई छात्र दुर्व्यवस्था फैलाने में तत्पर ही है अथवा अविवेकी रूप में शरारती है तो शिक्षक को उसके दुर्व्यवहार के कारण की खोज करनी चाहिए, क्योंकि हो सकता है कि वह कारण दूषित भोजन, विश्राम का अभाव, पारिवारिक झगड़े, अथवा कोई प्रच्छन्न भय हो।

सम्यक् शिक्षा से मुक्ति तथा विवेक का संवर्द्धन होता है और यह किसी भी प्रकार की बाध्यता में, जहाँ भय है, सम्भव नहीं है। आखिर अपने व्यक्तित्व की तमाम जटिलताओं को समझने में छात्र की सहायता करना ही शिक्षक का अभिप्रेत होना चाहिए। अतः जब अपने स्वभाव के एक अंश की उन्नति के हेतु उसके दूसरे अंश को दबाने के लिए हम छात्र को प्रेरित करते हैं तो हम उसके अन्दर एक अंतहीन द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं, जिसके परिणाम में सामाजिक संघर्ष होते हैं। वह सम्यक् बुद्धि ही है जिससे व्यवस्था स्थापित होती है, न कि अनुशासन।

सम्यक् शिक्षा में अनुवृत्ति एवं आज्ञा-पालन के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि परस्पर प्रेम तथा सम्मान नहीं है तो शिक्षक एवं छात्र में सहयोग असम्भव है। जब बच्चों से यह आशा की जाती है कि वे बड़ों का सम्मान करें, तो वह प्रायः एक आदत, एक बाहरी दिखावा-मात्र बन जाता है और भय ही सम्मान का रूप धारण कर लेता है। सम्मान एवं सद्भाव के अभाव में कोई सजीव सम्बन्ध सम्भव नहीं है, विशेष रूप से जब अध्यापक केवल अपने ज्ञान का उपकरण होता है।

यदि शिक्षक अपने शिष्यों से सम्मान की माँग करता है और स्वयं उनका सम्मान नहीं करता, तो स्पष्ट है कि इससे शिष्यों में उसके प्रति उपेक्षा एवं असम्मान का भाव उत्पन्न होगा। मानव जीवन के प्रति आदर के अभाव में ज्ञान केवल विनाश एवं कष्ट की ओर ही ले जायेगा। दूसरों के प्रति सम्मान का सम्वर्द्धन सही शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है, परन्तु यदि स्वयं शिक्षक में ही यह गुण नहीं है तो वह समन्वित जीवन की उपलब्धि में छात्रों की सहायता नहीं कर सकता।

सम्यक् बुद्धि जो 'अनिवार्य' है उसकी पहचान है, और 'अनिवार्य' को पहचानने के लिए उन बाधाओं से मुक्ति होनी चाहिए जिन्हें मन स्वयं अपनी सुरक्षा

एवं सुविधा के लिए प्रक्षिप्त करता है। जब तक मन सुरक्षा को खोज रहा है, भय अनिवार्य है; और जब किसी भी रूप में मनुष्यों को नियन्त्रित कर एक व्यवस्था में बाँधा जाता है तब सूक्ष्म जागरुकता एवं सम्यक् बुद्धि नष्ट हो जाती है।

शिक्षा का उद्देश्य, केवल व्यक्तियों के बीच ही नहीं वरन समाज एवं व्यक्ति के बीच भी, उचित सम्बन्ध का सम्वर्द्धन करना है; और इसीलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा, सबसे अधिक, व्यक्ति की स्वयं अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझने में सहायता करे। स्वयं अपने को समझने में तथा अपने से ऊपर एवं परे जाने में ही सम्यक् बुद्धि संलग्न होती है; परन्तु जब तक भय है तब तक वहाँ बुद्धि नहीं हो सकती। भय सम्यक् बुद्धि के लिए बाधक है एवं स्व-केन्द्रित कर्म का एक कारण है। अनुशासन भय को दबा सकता है, परन्तु उसे नष्ट नहीं कर सकता, और वह छिछला ज्ञान जो हमें आधुनिक शिक्षा से मिलता है, उसे केवल और अधिक छिपाता है।

जब हम छोटे होते हैं तभी से घर में तथा स्कूल में हममें से अधिकांश के अन्दर भय बैठा दिया जाता है। न तो अभिभावकों को और न अध्यापकों को ही इतना धैर्य, समय अथवा विवेक होता है कि वे बचपन के मूल प्रवृत्यात्मक भयों को समाप्त करें और ये भय, जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं, हमारी अभिवृत्तियों तथा निर्णयों पर अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं तथा अनेक प्रकार की समस्यायें उत्पन्न करते हैं। उचित शिक्षा को भय के इस प्रश्न पर अवश्य विचार करना चाहिए क्योंकि भय जीवन के हमारे समस्त दृष्टिकोणों को गुमराह कर देता है। निर्भयता ही प्रज्ञा का प्रारम्भ है और केवल उचित शिक्षा ही भय से विमुक्ति उत्पन्न कर सकती है। इस विमुक्ति में ही गहन एवं सृजनशील बुद्धिमत्ता सम्भव है।

किसी कार्य के लिए पुरस्कार अथवा दण्ड केवल स्व-केन्द्रित को शक्ति प्रदान करता है। किसी दूसरे के लिए कार्य करना, चाहे वह ईश्वर के नाम पर हो अथवा राष्ट्र के नाम पर, भय उत्पन्न करता है, और यह भय उचित कार्य का आधार नहीं हो सकता। यदि हम दूसरों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होने में बालक की सहायता करना चाहते हैं तो हमें प्रेम का प्रयोग रिश्वत के रूप में नहीं करना चाहिए; हमें उस सहानुभूति की प्रक्रिया को समझना चाहिए और उसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे पास समय तथा धैर्य हो।

जब दूसरों के प्रति सम्मान के लिए हमें पुरस्कार मिलता है तो वास्तव में वह सम्मान है ही नहीं, क्योंकि रिश्वत अथवा दण्ड सम्मान की भावना से कहीं

अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यदि बच्चे के लिए हमारे अन्दर कोई सम्मान नहीं है और हम उसे केवल पुरस्कार देते रहते हैं अथवा दण्ड की धमकी देते हैं तो हम उसके अन्दर लिप्सा एवं भय को प्रोत्साहन देते हैं। स्वयं हमारा ही विकास इस प्रकार हुआ है कि हम सदा किसी परिणाम को प्राप्त करने के लिए ही कर्म करते हैं, फलस्वरूप हम यह नहीं देख पाते कि कोई ऐसा भी कर्म हो सकता है जो किसी लाभ की इच्छा के बिना ही किया जाय।

उचित शिक्षा सम्भवत: विचारशीलतां एवं दूसरों के प्रति सहृदयता के बिना किसी लाभ या भय को प्रोत्साहित करेगी। यदि हम तत्काल लाभ के लिए प्रयत्न न करें तो हम देखने लगेंगे कि शिक्षक एवं बालक दोनों ही के लिए दण्ड का भय अथवा पुरस्कार की लालसा एवं सभी प्रकार की दूसरी बाध्यताओं से मुक्त होना कितना महत्त्वपूर्ण है; परन्तु बाध्यता बनी ही रहेगी जब तक पारस्परिक सम्बन्ध में सत्ता को स्थान प्राप्त रहेगा।

यदि व्यक्तिगत अभीष्ट एवं उपलब्धि की भाषा में ही सोचा जाय तो सत्ता के अनुगमन के अनेक लाभ हैं, परन्तु व्यक्तिगत उन्नति एवं लाभ पर आधारित शिक्षा ही केवल एक ऐसी सामाजिक संरचना का निर्माण कर सकती है जो प्रतिद्वन्द्वदितापूर्ण है, संघर्षशील है एवं क्रूर है। जिस समाज में हमारा पोषण हुआ है वह ऐसा ही समाज है, उसमें हमारे द्वेष तथा हमारी भ्रान्तियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं।

हमें यह सिखाया गया है कि हम किसी अध्यापक, किसी ग्रन्थ या किसी दल की सत्ता के समरूप चलें; क्योंकि ऐसा करना लाभप्रद है। पुरोहित से लेकर नौकरशाह तक जीवन के प्रत्येक विभाग में विशेषज्ञ अपने सत्ताधिकार का प्रयोग करते हैं अथवा अपना प्रभुत्व हम पर जमाते हैं; परन्तु कोई भी सरकार अथवा अध्यापक जो दबाव का प्रयोग करता है, कभी भी परस्पर सम्बन्ध के उस सहयोग को नहीं उत्पन्न कर सकता जो एक समाज के कल्याण के लिए अत्यावश्यक है।

यदि हम मनुष्यों के बीच उचित सम्बन्ध चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि उसमें किसी प्रकार की बाध्यता अथवा दबाव नहीं हो। जो व्यक्ति सत्ता में है तथा जो सत्ता के अधीन है, उनके बीच प्रेम तथा वास्तविक सहकार हो ही कैसे सकता है? सत्ताधिकार के इस प्रश्न तथा उसके अनेक निहितार्थों पर यदि हम निष्पक्षता से विचार करें, यदि हम देखें कि सत्ता की लालसा ही स्वयं में

विनाशकारी है, तो सत्ताधिकार की समस्त प्रक्रिया का हमें सहज ही अवबोध हो जायेगा। जैसे ही हम सत्ताधिकार का परित्याग कर देते हैं, हम एक दूसरे के सहभागी हो जाते हैं और तभी सहकार एवं स्नेह होता है।

शिक्षा की वास्तविक समस्या शिक्षक है। यदि शिक्षक सत्ता का उपयोग स्वयं अपने प्रकाशन के साधन के रूप में करता है, यदि अध्यापन उसके लिए किसी आत्म-विस्तारक परितोष का साधन है, तो छात्रों का एक छोटा-सा समूह भी उसके व्यक्तिगत महत्त्व का साधन बन जाता है। परन्तु सत्ताधिकार के इस दूषित प्रभाव के विषय में केवल बौद्धिक अथवा शाब्दिक रूप से सहमत हो जाना मूर्खतापूर्ण तथा व्यर्थ है।

सत्ता तथा प्रभुत्व के प्रच्छन्न प्रयोजनों के विषय में गहन अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। यदि हम यह समझ लें कि बाध्यता से कभी भी सम्यक् बुद्धि को जागृत नहीं किया जा सकता, तो इस वास्तविकता के प्रति हमारा अवबोध ही हमारे समस्त भयों को नष्ट कर देगा और तब हम एक ऐसे नवीन परिवेश का सम्वर्द्धन करना प्रारम्भ कर देंगे जो वर्तमान समाज-व्यवस्था से अत्यधिक भिन्न तथा कहीं अधिक उत्कृष्ट होगा।

जीवन के महत्त्व को, जिसमें उसके द्वन्द्व तथा कष्ट भी सम्मिलित हैं, समझने के लिए, हमें सभी प्रकार की सत्ता से मुक्त होकर सोचना चाहिए, वह सत्ता भी इसमें सम्मिलित है जो संगठित धर्म से मिलती है; परन्तु दूसरी ओर यदि बालक की सहायता करने की भावना से हम उसके सामने सत्ताधिकारपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तो हम केवल भय, अनुकरण तथा विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों को ही प्रोत्साहित करेंगे।

धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्ति बालकों पर उन विश्वासों, आशाओं और आशंकाओं को आरोपित करते हैं जिन्हें उन्होंने स्वयं अपने अभिभावकों से पाया है; दूसरी ओर वे व्यक्ति जो धर्म-विरोधी हैं, वे भी बड़े उत्सुक रहते हैं कि बच्चे उस विशेष विचारधारा को स्वीकार करें जिसका वे स्वयं अनुगमन करते हैं। हम सभी चाहते हैं कि बच्चे पूजा-उपासना के उसी स्वरूप को स्वीकार करें जिसे हम मानते हैं तथा हमारी ही विचार-प्रणाली को हृदयंगम करें। प्रतिमाओं तथा सूत्रों में फँसना बड़ा आसान है, चाहे ये प्रतिमायें तथा सूत्र हमारे द्वारा अन्वेषित हों अथवा दूसरों के द्वारा, और इसीलिए इस विषय में सतत जागरूकता एवं सावधानी आवश्यक है।

जिसे हम धर्म कहते हैं वह केवल संगठित विश्वास और उसकी रूढ़ियों, कर्मकाण्डों, रहस्यों एवं अंधविश्वासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रत्येक धर्म की अपनी पवित्र पोथी होती है, अपना पैगम्बर होता है, अपने पुरोहित होते हैं तथा लोगों को धमकाने एवं संगठित करने के अपने तरीके होते हैं। हममें से अधिकांश को इसी प्रकार संस्कारबद्ध किया गया है और इसी को धार्मिक शिक्षा माना गया है; परन्तु यह संस्कारबद्धता मनुष्य को मनुष्य के विरुद्ध खड़ी कर देती है— केवल एक सम्प्रदाय में भी संघर्ष उत्पन्न करती है। यद्यपि सभी धर्मों का दावा है कि वे ईश्वर के उपासक हैं और उनका उपदेश है कि हमें एक-दूसरे से प्रेम करना चाहिए, परन्तु वे अपने दण्ड तथा पुरस्कार के सिद्धान्तों के द्वारा भय उत्पन्न करते हैं तथा अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों द्वारा सन्देह तथा द्वेष को बनाये रखते हैं।

रूढ़ि-सिद्धान्त, रहस्य तथा कर्मकाण्ड ये सभी आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल नहीं हैं। धार्मिक शिक्षा का सही अर्थ यही है कि बच्चे को अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं तथा प्रकृति के साथ अपने सम्बन्ध को समझने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। सम्बन्ध के बिना अस्तित्व ही नहीं है; और आत्म-ज्ञान के अभाव में किसी एक के साथ अथवा अनेक के साथ सभी सम्बन्ध, द्वन्द्व तथा दुख उत्पन्न करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी बालक को यह सब भली-भाँति समझना असम्भव है; परन्तु यदि शिक्षक तथा अभिभावक सम्बन्ध के सम्पूर्ण महत्त्व को गहराई से समझ लें तो वे अपनी अभिवृत्ति, व्यवहार तथा सम्भाषण के द्वारा बिना अधिक शब्दों तथा व्याख्याओं के ही बच्चे को आध्यात्मिक जीवन के अर्थ को सम्प्रेषित कर देंगे।

हमारा तथाकथित धार्मिक प्रशिक्षण प्रश्न करने अथवा सन्देह करने को हतोत्साहित करता है। परन्तु सत्य क्या है, इसकी खोज तभी आरम्भ होती है जब हम उन मूल्यों के महत्त्व की जाँच करना आरम्भ करते हैं जिनको समाज अथवा धर्म ने हमारे चारों ओर फैला रखा है। यह शिक्षक का कार्य है कि वह अपने विचारों तथा अपनी भावनाओं की गहराई से जाँच करे तथा उन मूल्यों का परित्याग करे जिन्होंने उसे सुरक्षा तथा सुविधा प्रदान की है; क्योंकि तभी वह अपने छात्रों की इसमें सहायता कर सकेगा कि वे अपने प्रति जागरूक हों तथा स्वयं अपनी प्रेरणाओं एवं आशंकाओं को समझे।

बाल्यावस्था ही वह समय है जब व्यक्ति का स्पष्ट एवं सरल विकास होता है; और हममें से जो बड़े हैं उनमें यदि अवबोध है तो वे बच्चों की सहायता कर सकते हैं कि वे अपने को न केवल उन बाधाओं से मुक्त करें जो समाज ने उन पर आरोपित की हैं, वरन् उनसे भी मुक्त हों जो स्वयं उन्होंने ही प्रक्षेपित की हैं। धार्मिक पूर्व-धारणाओं तथा पूर्वाग्रहों द्वारा यदि बालक के मन व हृदय को किसी साँचे में नहीं ढाला जाता है, तो आत्म-ज्ञान के माध्यम से बालक उसकी खोज के लिए मुक्त होगा जो उसके परे है, जो परम है।

धार्मिक विश्वास एवं कर्मकाण्ड के नियम; आशाएँ एवं आशंकाएँ वास्तविक धर्म नहीं होते, ये सब बाधायें हैं और यदि हम बच्चे का विकास इन बाधक प्रभावों से मुक्त होकर होने दें, तो सम्भवत: जैसे-जैसे वह परिपक्व होगा, वह यथार्थ का, ईश्वर का, उसके स्वरूप का अन्वेषण करेगा। यही कारण है कि बालक के शिक्षण के लिए गहरी सूक्ष्म दृष्टि तथा अवबोध आवश्यक है।

अधिकांश व्यक्ति, जो धर्मावलम्बी हैं, जो ईश्वर तथा अमरत्व की चर्चा करते हैं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा एकीकरण में कोई मूलभूत विश्वास नहीं रखते; इस पर भी सत्य की खोज में धर्म का अर्थ स्वतन्त्रता का सम्वर्द्धन है। मुक्ति के लिए किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता। व्यक्ति के लिए आंशिक मुक्ति ही मुक्ति नहीं है। किसी प्रकार की संस्कारबद्धता भी मुक्ति नहीं होती, चाहे वह धार्मिक हो अथवा राजनैतिक और वह कभी भी शान्ति नहीं ला सकती।

संस्कारबद्धता किसी भी रूप में, धर्म नहीं होती। धर्म परम शान्ति की एक अवस्था है जिसमें सत्यता है, ईश्वर है; परन्तु वह सृजनशील अवस्था तभी सम्भव होती है जब आत्म-ज्ञान तथा मुक्ति हो। मुक्ति सद्‌गुण लाती है, और सद्‌गुण के अभाव में परम शान्ति सम्भव नहीं है। निश्चल मन संस्कारबद्ध मन नहीं होता; यह अनुशासित भी नहीं होता अथवा प्रशिक्षित करके मन को निश्चल बनाया भी नहीं जा सकता। शान्ति तभी आती है जब मन स्वयं अपनी प्रक्रियाओं को जो कि 'स्व' की प्रक्रियायें हैं, समझता है।

संगठित धर्म मनुष्य के विचार का वह रूप है जो जड़ीभूत हो गया है, जिसके द्वारा वह मन्दिरों तथा गिरजाघरों का निर्माण करता है, जो भयाक्रान्त व्यक्ति के लिए एक शान्ति-स्थल बन जाता है, और जो दुख में हैं, उनके लिए अफीम का कार्य करता है। परन्तु ईश्वर अथवा सत्य, विचार एवं संवेग की इन आवश्यकताओं

से कहीं परे है। उन अभिभावकों और अध्यापकों को, जो भय तथा दुख उत्पन्न करनेवाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को समझ लेते हैं, उनमें बच्चों के अपने द्वन्द्वों तथा कठिनाइयों को देखने तथा समझने में सहायता कर सकने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

हम जो बड़े हैं, यदि बालकों की सहायता कर सकें कि वे, जैसे-जैसे विकास करते जायें, राग-द्वेष रहित होकर स्पष्ट रूप से चिन्तन करें, प्रेम करें तथा बैर-भाव न उत्पन्न करें, तो फिर और कुछ करने के लिए रहता ही क्या है? परन्तु यदि हम निरन्तर एक-दूसरे की गर्दन काटने में लगे हैं, यदि मूलभूत रूप से अपने को बदल कर विश्व में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करनें में हम समर्थ नहीं हैं तो विभिन्न धर्मों की पवित्र पोथियों का तथा पुराणकथाओं का मूल्य ही क्या है?

सच्ची धार्मिक शिक्षा का अर्थ है सम्यक् बुद्धि से परिपूर्ण जागरूकता, यथार्थ एवं अस्थायी के बीच विवेक, तथा जीवन के प्रति तटस्थ दृष्टि उपलब्ध करने में बालक की सहायता करना। किन्हीं शब्द या सूत्र के बारम्बार बुदबुदाने या दुहराये जाने की अपेक्षा घर अथवा स्कूल में प्रत्येक दिंन का शुभारम्भ गहन चिन्तन तथा गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण पाठन से हो।

अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, परम्पराओं तथा आदर्शों से हमारी बीती हुई पीढ़ियों ने विश्व में कष्ट तथा विनाश ही उत्पन्न किया है; आनेवाली पीढ़ियाँ सही शिक्षा के माध्यम से सम्भवत: इस दुर्व्यवस्था का अन्त कर सकती हैं तथा एक सुखकर समाज-व्यवस्था का निर्माण कर सकती हैं। जो छोटे हैं, जो युवक हैं, यदि उनमें अन्वेषण की भावना है, यदि वे राजनीतिक एवं धार्मिक, व्यक्तिगत तथा परिवेश-सम्बन्धी, सभी वस्तुओं के सत्य की निरन्तर खोज कर रहे हैं तो निश्चय ही उनका बड़ा महत्त्व होगा और तब अपेक्षाकृत एक अच्छे विश्व की आशा की जा सकती है।

अधिकांश बच्चे जिज्ञासु होते हैं; उनमें जानने की लालसा होती है; परन्तु उत्सुकता से भरे अनेक प्रश्नों को हम अपनी पुरोहिती दावों से तथा श्रेष्ठता की भावना से उत्पन्न अपने अधैर्य से हतोत्साहित कर देते हैं तथा उनका सुना-अनसुना कर देते हैं। अन्वेषण करने के लिए उन्हें हम प्रोत्साहित नहीं करते, क्योंकि हमें भय रहता है कि पता नहीं वे हमसे क्या पूछ लें; हम उनमें असंतोष का पोषण नहीं करते, क्योंकि स्वयं हमने ही प्रश्न करना बन्द कर दिया है।

अधिकांश अभिभावक तथा अध्यापक असंतोष से भयभीत रहते हैं, क्योंकि सभी प्रकार की सुरक्षा के लिए वह परेशानी पैदा करनेवाला होता है, इसलिए वे युवकों को हतोत्साहित करते हैं कि वे सुरक्षित व्यवसाय अथवा नौकरी से, पैतृक सम्पत्ति से, विवाह से अथवा धार्मिक रूढ़ि-सिद्धान्तों से प्राप्त सांत्वना से उस असंतोष पर विजय प्राप्त करें। बड़े लोग भली-भाँति जानते हैं कि मन तथा हृदय को स्फूर्तिविहीन बनाने के विभिन्न तरीके क्या हैं और सत्ताधिकारी, परम्पराओं तथा विश्वासों का प्रभाव डालकर वे बालक को भी उसी प्रकार स्फूर्तिविहीन बनाते हैं जैसे कि वे स्वयं हैं।

सभी प्रकार की पोथियों के विरुद्ध प्रश्न करने के लिए प्रोत्साहित करके तथा प्रचलित सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं, सरकार के रूपों, धार्मिक विश्वासों आदि के प्रति अन्वेषण की भावना को प्रेरित करके ही शिक्षक तथा अभिभावक बालक की आलोचनात्मक सतर्कता और तीव्र अन्तर्दृष्टि को जाग्रत कर सकते हैं तथा उसे कायम रख सकते हैं।

युवक, यदि वे सप्राण हैं, आशा एवं असंतोष से परिपूर्ण होते हैं; उन्हें ऐसा होना ही चाहिए, अन्यथा वे पहले से ही वृद्ध एवं प्राणहीन हैं। वृद्ध वे ही व्यक्ति हैं, जो कभी असंतुष्ट तो थे, परन्तु जिन्होंने असंतोष की उस अग्नि को सफलतापूर्वक बुझा दिया हैं और विभिन्न प्रकार के सुरक्षा एवं सुविधा को प्राप्त कर लिया है। उन्हें अपने तथा अपने परिवारों के स्थायित्व की लालसा है; विचारों में, सम्बन्धों में, प्राप्त सम्पत्ति में, वे निश्चिंत होना चाहते हैं; इसकी उन्हें बड़ी तीव्र अभिलाषा रहती है। अतः जैसे ही उनमें असंतोष का भाव उत्पन्न होता है, वे अपने दायित्वों में, अपने व्यवसायों में, अथवा अन्य किसी दूसरी वस्तु में अपने को व्यस्त कर लेते हैं, जिससे कि असंतोष की इस भावना से बच सकें जो उन्हें परेशान करती है।

जब तक हम युवक हैं तभी तक केवल समय है कि हम असन्तुष्ट हों, केवल अपने से ही नहीं वरन अपने चारों ओर की वस्तुओं से भी। हमें पूर्वाग्रह से मुक्त होकर स्पष्ट विचार करना सीखना चाहिए, जिससे हम आभ्यंतर में पराश्रित एवं भयाक्रान्त न हों। स्वतन्त्रता राष्ट्र के लिए नहीं होती; वह नक्शे में किसी रंगे हुए भाग के लिए नहीं होती; जिसे हम राष्ट्र कहते हैं; वह व्यक्ति के रूप में हमारे लिए है और यद्यपि हम एक-दूसरे पर बाह्य रूप से आश्रित हैं, परन्तु यह परस्पराश्रितता क्रूर एवं परेशानी पैदा करने वाली नहीं होती यदि आभ्यंतर में हम शक्ति, पद तथा सत्ताधिकार की वासना से मुक्त होते हैं।

असन्तोष से अधिकांश व्यक्ति भयभीत रहते हैं; आवश्यकता उसे समझने की है। असंन्तोष द्वारा तथाकथित दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो सकती है; परन्तु यदि वह हमें आत्मबोध तथा आत्म-त्याग की ओर ले जाये, जैसा कि उसे ले जाना चाहिए, तो वह एक नवीन समाज-व्यवस्था तथा स्थायी शान्ति उत्पन्न करेगा। आत्म-त्याग से असीम आनन्द उत्पन्न होता है।

असन्तोष मुक्ति का साधन है; परन्तु निष्पक्ष अन्वेषण के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ संवेगात्मक अपव्यय न हो जो प्राय: राजनीतिक सभाओं के, नारेबाजी के, गुरु अथवा आध्यात्मिक शिक्षक की खोज के रूप में अथवा विभिन्न प्रकार के धर्मोन्माद के रूप में प्रकट होता है। यह अपव्यय मन तथा हृदय को स्फूर्तिविहीन बना देता है, उन्हें सूक्ष्म दृष्टि के योग्य नहीं रहने देता और इस प्रकार की परिस्थितियों से तथा भय से आसानी से प्रभावित होने वाले बन जाते हैं। भीड़ के पीछे चलना या उसकी नकल करना तो बड़ा आसान होता है, परन्तु उससे जीवन की प्रक्रियाओं के प्रति नवीन अवबोध उत्पन्न नहीं हो सकता। यह अवबोध केवल अन्वेषण की तीव्र इच्छा करने से ही उत्पन्न होता है।

पुरोहित अथवा राजनीतिज्ञ, धनी अथवा निर्धन, बड़ी सरलता से युवकों को एक विशेष प्रकार से सोचने के लिए सरलता से प्रभावित कर लेते हैं; परन्तु उचित शिक्षा के लिए युवकों की सहायता करनी चाहिए जिससे कि वे इन प्रभावों के प्रति जागरूक बन सकें ताकि वे तोते की तरह उनके नारों को न दोहरायें और न तो लालच भरे उनके किसी जाल में ही फँसें, चाहे वे जाल स्वयं उनके ही हों अथवा किसी दूसरे के। किसी भी सत्ताधिकारी को उन्हें अपने मन तथा हृदय को दमन करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। किसी भी व्यक्ति का अनुगमन चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, अथवा परितुष्ट करने वाली किसी भी विचार-प्रणाली का समर्थन, एक शान्तिमय विश्व को उत्पन्न नहीं कर सकता।

जब हम स्कूल अथवा कालेज छोड़ देते हैं, हममें से अधिकांश लोग पुस्तकों को एक ओर रख देते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि हमारा शिक्षण समाप्त हो गया है; और दूसरी ओर वे व्यक्ति हैं जो किसी क्षेत्र में आगे सोचने के लिए प्रेरित होते हैं, दूसरों ने जो कहा है उसे पढ़ना तथा आत्मसात करना जारी रखते हैं और ज्ञानार्जन के अभ्यस्त हो जाते हैं। जब तक ज्ञान अथवा तकनीक की, सफलता एवं प्रभुत्व के साधन के रूप में उपासना होती रहेगी तब तक वह रोटी के लिए सतत संघर्ष, कठोर प्रतिद्वन्द्विता तथा बैर भाव बना रहेगा।

जब तक सफलता हमारा लक्ष्य है तब तक हम भय से मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि सफलता की आकांक्षा अनिवार्यत: असफलता के भय को उत्पन्न करती है। इसीलिए युवकों को सफलता की उपासना करना नहीं सिखाया जाना चाहिए। अधिकांश व्यक्ति किसी एक अथवा दूसरे प्रकार की सफलता चाहते ही हैं, चाहे वह टेनिस कोर्ट पर हों, व्यापार की दुनिया में हों अथवा राजनीति में हों। हम सभी चोटी पर रहना चाहते हैं, और यह इच्छा हमारे अन्दर तथा हमारे पड़ोसी के साथ निरन्तर द्वन्द्व का कारण बनती है; यही हमें प्रतिद्वन्द्विता, द्वेष, बैरभाव तथा अन्त में युद्ध तक ले जाती है।

पुरानी पीढ़ी की भाँति युवक भी सफलता एवं सुरक्षा की खोज करते हैं; यद्यपि आरम्भ में वे असन्तुष्ट हो सकते हैं, परन्तु वे शीघ्र ही सम्मानित बन जाते हैं तथा समाज का निषेध करने में भय खाते हैं। उनकी अपनी वासनाओं की दीवारें उन्हें घेरना आरम्भ कर देती हैं और वे समाज के अनुकूल बन जाते हैं तथा सत्ताधिकार की लगाम अपने हाथ में ले लेते हैं। उनका असंतोष ही तो अन्वेषण की, खोज की, अवबोध की ज्वाला है और वही मन्द हो जाता है तथा बुझ जाता है। उसके स्थान पर आ जाती है किसी अच्छे व्यवसाय की, धन-सम्पन्न विवाह की, अथवा सफल जीवनवृत्ति की इच्छा, जो सब-की-सब अधिकाधिक सुरक्षा की लालसा ही है।

बूढ़ों में तथा युवकों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही अपनी वासनाओं के तथा परितोषों के दास हैं। परिपक्वता आयु से नहीं वरन अवबोध से आती है। अन्वेषण की तीव्र भावना सम्भवत: युवक के लिए सहज है क्योंकि जो अपेक्षाकृत बूढ़े हैं वे जीवन के थपेड़ों से चूर-चूर हो चुके हैं, द्वन्द्वों ने उन्हें थका दिया है और अनेक रूपों में मृत्यु उनकी प्रतीक्षा कर रही है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे किसी सार्थक अन्वेषण के अयोग्य हैं, बल्कि उनके लिए वह अपेक्षाकृत अधिक कठिन है।

अनेक प्रौढ़ व्यक्ति अपरिपक्व ही नहीं होते, उनमें लड़कपन भी होता है और विश्व में भ्रांति एवं कष्ट का यह भी एक कारण है। अपेक्षाकृत प्रौढ़ व्यक्ति ही वर्तमान आर्थिक तथा नैतिक संकट के लिए जिम्मेदार है; और हमारी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्बलताओं में से एक दुर्बलता यह भी है कि हम चाहते हैं कि कोई दूसरा व्यक्ति ही हमारे कामों को करे तथा हमारे जीवन के मार्ग को बदले। हम प्रतीक्षा करते हैं कि दूसरे विद्रोह करें तथा पुनर्निर्माण करें और हम तब तक निष्क्रिय बने रहें जब तक हम परिणाम के प्रति आश्वस्त न हो जायें।

यह सुरक्षा तथा सफलता ही है जिसके पीछे हममें से अधिकांश व्यक्ति पड़े हैं; एक ऐसा मन जो सुरक्षा की खोज में रत है और जो सफलता की कामना कर रहा है वस्तुतः बुद्धिमान नहीं है, और इसलिए वह समन्वित कर्म के अयोग्य है। समन्वित कर्म तभी सम्भव है जब व्यक्ति स्वयं अपनी संस्कारबद्धता के प्रति, अपनी जातीय, राष्ट्रीय, राजनीतिक एवं पूर्वाग्रहों के प्रति जागरूक हो, अर्थात जब व्यक्ति यह अनुभव करता हो कि 'स्व' की प्रक्रिया सदा ही विभाजन का कारण होती है।

जीवन एक कुएँ के समान है जिसमें अथाह जल है। कुछ व्यक्ति छोटी बाल्टी लेकर आते हैं तथा थोड़ा-सा जल खींचते हैं, दूसरे व्यक्ति बड़ा बर्तन लेकर आते हैं तथा अधिकांश जल खींच लेते हैं— ऐसा जल जो उनको पोषित करता है और अस्तित्वमय रखता है। जब तक कोई युवा है तभी तक समय है कि वह अन्वेषण करे, प्रत्येक वस्तु के विषय में प्रयोग करे। अपने व्यवसाय तथा दायित्वों को खोजने में विद्यालयों को युवकों की सहायता करनी चाहिए, न कि तथ्यों से तथा तकनीकी ज्ञान से उनके मस्तिष्क को भरने में; विद्यालय की भूमि ऐसी होनी चाहिए जहाँ वे बिना भय के सुखपूर्वक समन्वित रूप में अपना विकास कर सकें।

बालक को शिक्षा देने का अर्थ है कि स्वतन्त्रता एवं समन्वय के प्रति अवबोध में उसकी सहायता की जाय। स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए व्यवस्था आवश्यक है, वह केवल सद्‌गुण से ही सम्भव होती है; और समन्वय तभी सम्भव होता है जब अत्यधिक सरलता होती है। अगणित जटिलताओं से निकलकर हमें सरलता की ओर विकसित होना चाहिए; अपने आंतरिक जीवन में तथा अपनी बाह्य आवश्यकताओं में हमें सरल बनना चाहिए।

वर्तमान में शिक्षा का सम्बन्ध बाह्य कार्य-क्षमता से है; मनुष्य की आभ्यन्तरिक प्रकृति की या तो शिक्षा पूर्णतया उपेक्षा कर देती है या उन्हें जान-बूझकर विरूपित कर देती है। वह उसके केवल एक अंश का ही विकास करती है तथा शेष को बोझ के रूप में छोड़ देती है कि वह जितना पीछे हो सके घिसटता रहे। हमारे आन्तरिक संघर्ष, द्वन्द्व, भय और समाज की बाहरी संरचना को सदा अभिभूत कर लेते हैं; अब वे चाहे जितनी ही साधुतापूर्वक सुचिन्तित तथा चतुरतापूर्वक निर्मित क्यों न हुए हों। जब उचित प्रकार की शिक्षा नहीं होती तब हम एक-दूसरे को नष्ट करते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए शारीरिक सुरक्षा का निषेध करते हैं। छात्र

को उचित शिक्षा देने का अर्थ है कि अपनी समग्र प्रक्रिया को स्वयं समझ सकने के योग्य बनने में उसकी सहायता की जाय; क्योंकि सम्यक् बुद्धि तथा आन्तरिक परिवर्तन की सम्भावना तभी होती है जब दिन-प्रतिदिन के कार्यों में मन और ह्रदय का समन्वय हो जाता है।

सूचनाओं के देने तथा तकनीकी प्रशिक्षण के साथ ही यह सबसे अधिक आवश्यक है कि शिक्षा, हमारे जीवन के प्रति एक समन्वित दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करे; उसे छात्र की सहायता करनी चाहिए कि जिससे वह अपने अन्दर की तमाम सामाजिक विषमताओं तथा पूर्वाग्रहों को तोड़ सके तथा शक्ति एवं प्रभुत्व के लिए होनेवाली लोलुपतापूर्ण दौड़ को हतोत्साहित कर सके। उसे सही प्रकार के आत्म-निरीक्षण के लिए तथा जीवन को उसकी समग्रता में अनुभव करने के प्रयास करने चाहिए जिसका अर्थ है कि उसके किसी अंश को, 'मैं' और 'मेरे' को, महत्त्व न दिया जाय बल्कि मन की सहायता की जाय कि वह अपने से ऊपर एवं परे जाकर यथार्थ की खोज करे।

अपने दिन-प्रति-दिन के कार्य-कलापों में अर्थात व्यक्तियों, वस्तुओं, विचारों तथा प्रकृति के साथ अपने सम्बन्ध में होनेवाले आत्मज्ञान के माध्यम से ही स्वतन्त्रता सम्भव होती है। यदि शिक्षक समन्वित होने में छात्र की सहायता कर रहा है तो जीवन के किसी एक विशेष पक्ष पर किसी प्रकार का धर्मान्धता युक्त या अविवेकपूर्ण बल नहीं दिया जा सकता। अस्तित्व की समग्र प्रक्रिया को समझने से ही एकीकरण सम्भव होता है। जब व्यक्ति को आत्मज्ञान होता है तो भ्रम उत्पन्न करने की शक्ति का पर्यावसान हो जाता है और तभी ईश्वर अथवा यथार्थता का होना सम्भव होता है।

यदि मानव जाति को खण्ड-खण्ड हुए बिना किसी संकट से, विशेषरूप से वर्तमान विश्व संकट से उबरना है तो उसका एकीकरण आवश्यक है, अत: उन अभिभावकों तथा अध्यापकों के लिए जो वास्तव में शिक्षा में रुचि रखते हैं, उनकी मुख्य समस्या यह है कि कैसे एक समन्वित व्यक्ति का विकास हो। ऐसा करने के लिए स्पष्ट है कि स्वयं शिक्षक को एकीकृत होना पड़ेगा। अत: उचित प्रकार की शिक्षा का महत्त्व सर्वाधिक है, और यह महत्त्व केवल बच्चों एवं युवकों के लिए ही नहीं है वरन प्रौढ़ों के लिए भी है, यदि वे सीखने के लिए तैयार हैं और अपनी आदतों को आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि बालक को क्या पढ़ाया जाय, और यदि हम अपने बालकों से प्रेम करते हैं तो निश्चय ही हम इस विषय में सावधानी बरतेंगे कि उन्हें सही प्रकार के शिक्षक मिलें।

शिक्षण को किसी विशेषज्ञ का व्यवसाय नहीं बनना चाहिए। जब ऐसा होता है, और प्राय: ऐसा होता ही है, तो प्रेम मुरझा जाता है; जब कि एकीकरण की प्रक्रिया के लिए प्रेम अनिवार्य है। एकीकरण के लिए भय से मुक्ति आवश्यक है। निर्भयता बिना क्रूरता से स्वतन्त्रता लाती है। उसमें दूसरों के प्रति उपेक्षा नहीं होती, और यही जीवन में सर्वाधिक आवश्यक है। प्रेम के अभाव में ज्ञान का संग्रह केवल भ्रांति उत्पन्न करेगा तथा आत्म-विनाश की ओर ले चलेगा।

एकीकृत मनुष्य तकनीक तक अपनी अनुभव-प्रक्रिया के द्वारा पहुँचेगा, क्योंकि सृजनशील प्रेरणा स्वयं अपनी तकनीक बनाती है— और यही सबसे बड़ी कला है। एक बच्चे में जब पेन्टिंग करने की सृजनशील प्रेरणा होती है तो वह पेन्टिंग करता है; वह तकनीक की चिन्ता नहीं करता। इसी प्रकार केवल वे लोग ही जो अनुभव कर रहे हैं; और इसलिए अध्यापन कार्य कर रहे हैं, वे ही वास्तविक अध्यापक हैं और वे अपनी तकनीक का भी सृजन कर लेंगे।

सुनने में यह बड़ा सरल प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविकता है— एक गहरी उत्क्रान्ति। यदि इसके विषय में हम विचार करें तो समाज पर उसके विलक्षण प्रभाव को, हम समझ सकते हैं। इस समय हममें से अधिकांश व्यक्ति पैंतालिस अथवा पचास वर्ष की आयु तक आते-आते दिन-प्रति-दिन के कार्य-चक्र की दासता से दुर्बल हो जाते हैं। आदेश पालन करते-करते, भय से तथा स्वीकार से हम समाप्त हो जाते हैं, यद्यपि एक ऐसे समाज में हम संघर्ष कर रहे हैं जिसकी सार्थकता केवल उन्हीं लोगों के लिए है जिनका उस पर प्रभुत्व है तथा जो सुरक्षित हैं। यदि अध्यापक इस सबको समझता है तथा इसका स्वयं अनुभव कर रहा है, तो उसका स्वभाव कैसा भी हो, उसकी क्षमताएँ चाहें जो भी हों, उसका शिक्षण केवल रोज-मर्रा का कार्य-चक्र पूरा करना ही न होगा, उसका शिक्षण बच्चे की सहायता करने का एक साधन भी बनेगा।

बच्चे को यदि समझना है तो हमें खेलते समय उसका सतर्क अवलोकन करना होगा, उसका अध्ययन करना होगा, विविध मनोदशाओं में। हम उसके ऊपर स्वयं अपने पूर्वाग्रह, आशाएँ तथा आशंकाएँ आरोपित नहीं कर सकते और न अपने चाहे हुए किसी प्रारूप के साँचे में ही उसे ढाल सकते हैं। यदि अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषों के अनुसार हम निरन्तर बच्चे के विषय में निर्णय लेगें तो अनिवार्य है कि हम अपने एवं बच्चे के सम्बन्धों के बीच तथा बच्चे एवं विश्व के सम्बन्धों के बीच बाधाएँ एवं रुकावटें खड़ी करेंगे। दुर्भाग्य से हममें से अधिकांश व्यक्ति

बच्चों को इस प्रकार का एक स्वरूप प्रदान करना चाहते हैं कि वह स्वयं हमारे अहंकार को तथा हमारी भावना एवं स्वभाव को सन्तुष्टि प्रदान करने वाला बने; अपने अधिकार एवं प्रभुत्व में हमें विभिन्न मात्राओं में सुख एवं सन्तोष का बोध कराने वाला हो ।

निस्सन्देह, यह प्रक्रिया सम्बन्ध नहीं है— यह आरोपण-मात्र है; अत: प्रभुत्व प्राप्त करने की इस जटिल तथा भयंकर वासना को समझना बड़ा आवश्यक है। यह अनेक सूक्ष्म रूपों को धारण कर लेती है; और अपने दंभी स्वभाव में वह बड़ी दुराग्रही होती है। 'सेवा' करने की वासना, जिसके पीछे प्रभुत्व की अचेतन आकांक्षा छिपी होती है, समझने में बड़ी कठिन होती है। जब स्वत्वाधिकार की भावना होती है, तो क्या वहाँ प्रेम हो सकता है? क्या जिनपर हम नियंत्रण करना चाहते हैं उनसे हमारा कोई संवाद हो सकता है? प्रभुत्व का अर्थ है दूसरे का आत्म-तुष्टीकरण के लिए उपयोग करना, और जहाँ दूसरे का इस्तेमाल है वहाँ प्रेम नहीं हो सकता।

जहाँ प्रेम है वहाँ सहानुभूति होती है— यह सहानुभूति केवल बच्चों के लिए नहीं बल्कि प्रत्येक मनुष्य के लिए। जब तक यह समस्या हमारे अन्तस्तल को नहीं स्पर्श करती, हम कभी भी शिक्षा के उचित रूप को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त होने से अनिवार्यत: निष्ठुरता उत्पन्न होती है, और यदि अपने बालकों को हम उचित शिक्षा देना चाहते हैं तो जीवन की समस्त गति के प्रति हमें संवेदनशील होना चाहिए। हम क्या सोचते हैं, हम क्या करते हैं, हम क्या कहते हैं, इसका महत्त्व अत्यधिक है, क्योंकि परिवेश ही बच्चे के लिए या तो सहायक सिद्ध होता है या बाधक बनता है।

स्पष्ट है कि उन व्यक्तियों को जो गहराई से इस समस्या में रुचि रखते हैं, उन्हें अपने को समझना प्रारम्भ करना होगा और इस प्रकार समाज को परिवर्तित करने में मदद करनी होगी; शिक्षा में नवीन दृष्टि का विकास करना हम सीधे अपनी जिम्मेदारी मानने लगेंगे। यदि हम अपने बच्चों से प्रेम करते हैं तो क्या हम युद्ध के अन्त का मार्ग नहीं खोजेंगे? परन्तु यहि हम 'प्रेम' का प्रयोग केवल शब्द के रूप में कर रहे हैं जिसका हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है, तो मानवीय कष्ट की तमाम जटिल समस्यायें बनी ही रहेंगी। इस समस्या का समाधान स्वयं हमारे अन्दर ही है। हमें अपने साथियों के साथ, प्रकृति के साथ, विचारों एवं वस्तुओं के साथ अपने सम्बन्धों को समझना चाहिए, क्योंकि बिना इस अवबोध के न तो कोई आशा ही है और न तो द्वन्द्व एवं दुख से मुक्ति ही।

बालक के पालन-पोषण के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण निरीक्षण तथा सावधानी की अवश्यकता है। विशेषज्ञ का ज्ञान कभी अभिभावकों के प्रेम का स्थान नहीं ले सकता, परन्तु अधिकांश अभिभावक उस प्रेम को स्वयं अपनी आशंकाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं से भ्रष्ट कर देते हैं, और यह भ्रष्ट प्रेम बच्चे के दृष्टिकोण को संस्कारबद्ध करता है तथा उसे विरूपित कर देता है। अतः बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध प्रेम से है, हम अधिकांशतः प्रेम के प्रदर्शन में ही बह जाते हैं।

वर्तमान शैक्षिक तथा सामाजिक संरचना मुक्ति तथा एकीकरण को प्राप्त करने में व्यक्ति की सहायता नहीं करती; और यदि अभिभावक वास्तव में चाहते हैं कि बालक की समन्वित सम्पूर्ण क्षमता का विकास हो तो उन्हें अपने घर के वातावरण एवं प्रभाव को बदलना आरम्भ कर देना चाहिए तथा उचित शिक्षकों को साथ लेकर विद्यालयों का निर्माण आरम्भ करना चाहिए।

घर तथा विद्यालय के प्रभाव को किसी प्रकार से परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए, अतः अभिभावक एवं अध्यापक दोनों को ही अपने को पुनः प्रशिक्षित करना आवश्यक होगा। व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तथा उसके समूहगत जीवन में जो विरोध प्रायः बना रहता है वह व्यक्ति के अपने अन्दर तथा उसके सम्बन्धों के बीच एक अंतहीन संघर्ष का कारण बनता है।

अनुचित शिक्षा के माध्यम से ही इस संघर्ष को प्रोत्साहित किया जाता है तथा सुरक्षित रखा जाता है तथा सरकारें एवं संगठित धर्म दोनों ही अपने परस्पर विरोधी सिद्धान्तों द्वारा इस भ्रांति को बढ़ाते हैं। आरम्भ से ही बच्चे का अपने अन्दर विभाजन हो जाता है, जिसका परिणाम व्यक्तिगत तथा सामाजिक विनाश होता है।

यदि हममें से वे लोग जो अपने बच्चों से प्रेम करते हैं तथा इस समस्या के प्राथमिक महत्त्व से परिचित हैं, इस समस्या के समाधान में अपने मन तथा हृदय को लगायें तो हमारी संख्या चाहे जितनी भी कम क्यों न हो, उचित शिक्षा तथा घर के विवेकपूर्ण परिवेश के द्वारा समन्वित मनुष्यों को उत्पन्न करने में हम सहायक हो सकेंगे, परन्तु यदि दूसरे तमाम व्यक्तियों की भाँति हम अपने हृदय को मन की चालाकियों से भरते रहेंगे, जो अपने बच्चों को युद्धों में, अकालों में, तथा स्वयं अपने मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों के द्वारा नष्ट होते देखने को हम विवश होते रहेंगे।

स्वयं अपने परिवर्तन से ही उचित शिक्षा आती है। हमें अपने को पुनः शिक्षित करना है कि हम किसी भी कारण से एक-दूसरे की हत्या न करें— वह कारण चाहे कितना भी उचित क्यों न हो, किसी एक विचार-प्रणाली के लिए भी नहीं, चाहे विश्व के भविष्य के सुख के लिए वह कितना भी आशाप्रद क्यों न हो। हमें करुणामय होना सीखना पड़ेगा, थोड़े में सन्तुष्ट रहना तथा 'सर्वोच्च' (Supreme) की खोज करना, क्योंकि तभी मानवजाति की वास्तविक मुक्ति संभव है।

■

बुद्धि, सत्ता एवं प्रज्ञा

हममें से अधिकांश व्यक्ति यह सोचते हुए प्रतीत होते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को लिखना सिखाकर हम अपनी मानवीय समस्याओं का समाधान कर लेंगे; परन्तु यह विचार भ्रामक सिद्ध हुआ है। जिन्हें शिक्षित कहा जाता है वे शान्ति-प्रिय एवं समन्वित व्यक्ति नहीं हैं, और विश्व में व्याप्त भ्रान्ति तथा कष्ट के लिए वे भी जिम्मेदार हैं।

उचित प्रकार की शिक्षा का अर्थ है प्रज्ञा को जागृत करना तथा समन्वित जीवन का पोषण करना, और केवल ऐसी ही शिक्षा एक नवीन संस्कृति तथा शांतिमय विश्व की स्थापना कर सकेगी; परन्तु इस प्रकार की नवीन शिक्षा लाने के लिए हमें एक पूर्णतया भिन्न आधार-भूमि पर नये सिरे से कार्य आरम्भ करना होगा।

हमारे चारों ओर विश्व में विनाश फैला है, परन्तु हम सिद्धान्तों तथा व्यर्थ के राजनीतिक प्रश्नों पर विवाद में व्यस्त रहते हैं तथा औपचारिक सुधारों का खेल खेलते हैं। क्या हमें इसकी सूचना नहीं है कि हम अत्यन्त विचारशून्य हैं? कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें इस परिस्थिति की सत्यता का आभास है परन्तु वे ठीक वही करते जायेंगे जिसे वे अब तक कर रहे थे और यही हमारे अस्तित्व का दुखद पक्ष है। जब हम किसी सत्य को सुनते हैं तथा उसके अनुसार कार्य नहीं करते तो वह सत्य हमारे अन्दर विष का कार्य करता है, वह विष फैलता है तथा मनोवैज्ञानिक विक्षोभ, असंतुलन तथा स्वास्थ्यहीनता को उत्पन्न करता है। शान्त एवं सुखी जीवन की सम्भावना तो केवल तभी होती है जब व्यक्ति में सृजनशील प्रज्ञा जागृत होती है।

केवल एक सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार, एक दल या वर्ग के स्थान पर दूसरे दल या वर्ग को, एक शोषक के स्थान पर दूसरे शोषक को स्थापित करके हम प्रज्ञावान नहीं हो सकते। खूनी क्रान्तियाँ कभी हमारी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकतीं। ऐसी क्रान्ति केवल आप और हम ही ला सकते हैं। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से स्वयं अपनी मनोवैज्ञानिक दीवारों को नहीं तोड़ते तथा स्वतन्त्र नहीं होते, तब तक नवीन व्यवस्था का निर्माण नहीं हो सकता।

कागज पर हम बढ़िया-से-बढ़िया स्वर्गराज्य (Utopia) के नक्शे का निर्माण कर सकते हैं, एक नई शक्तिशाली दुनिया का; परन्तु किसी अज्ञात भविष्य के लिए वर्तमान और भविष्य का बलिदान निश्चित ही हमारी किसी भी समस्या का समाधान नहीं करेगा। वर्तमान और भविष्य के बीच इतने तत्व विद्यमान हैं कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि भविष्य क्या होगा। यदि हम ईमानदार हैं तो जो हमें करना चाहिए और जो हम कर सकते हैं वह यही है कि अपनी समस्याओं से वर्तमान में ही अभी निबटें, उन्हें भविष्य के लिए स्थगित न करें। शाश्वत कहीं भविष्य में नहीं है, शाश्वत 'अभी' है। हमारी समस्याओं का अस्तित्व वर्तमान में है और वर्तमान में ही उनका समाधान हो सकता है।

हममें से जो वास्तव में इन समस्याओं के प्रति गम्भीर हैं उन्हें अपने को पुनरुज्जीवित करना चाहिए; परन्तु पुनरुज्जीवन केवल तभी सम्भव है जब उन मूल्यों से हम अपने को पृथक कर लें जिनको हमने अपनी आत्म-सुरक्षात्मक तथा आक्रामक वासनाओं के द्वारा निर्मित किया है। आत्मज्ञान ही मुक्ति का समारम्भ है, और जब हम अपने को जानेंगे तभी हम व्यवस्था एवं शांति उत्पन्न कर सकते हैं।

तो कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं कि 'अकेला एक व्यक्ति कर ही क्या सकता है जिससे इतिहास प्रभावित हो सके? जिस प्रकार से वह जीवन-यापन करता है, क्या वह कोई भी कार्य पूर्ण कर सकता है?' निस्संदेह वह कर सकता है। आप और मैं निकट आनेवाले युद्धों को नहीं रोक सकते और न तो राष्ट्रों के बीच तुरन्त ही कोई निकटता उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु अपने दिन-प्रति-दिन के सम्बन्धों के संसार में हम एक ऐसा मौलिक परिवर्तन तो ला ही सकते हैं जिसका अपना प्रभाव होगा।

व्यक्तिगत ज्ञान के प्रकाश से बड़ा समुदाय भी प्रभावित होता है, परन्तु तभी जब व्यक्ति स्वयं परिणामों के लिए बहुत उत्सुक नहीं होता। यदि व्यक्ति लाभ एवं परिणाम की भाषा में सोचता है, तो सही रूप में उसका ही परिवर्तन सम्भव न होगा।

मानवी समस्याएँ सरल नहीं है, वे बड़ी जटिल हैं। उनको समझने के लिए धैर्य एवं अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है, और यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति के रूप में हम स्वयं उन समस्याओं को समझें तथा अपने लिए उनका समाधान करें। किन्हीं सुविधाजनक फार्मूलों तथा नारों के माध्यम से उनको नहीं

समझा जा सकता और न तो अपने-अपने क्षेत्र में कार्य कर रहे विशेषज्ञों द्वारा ही उनका समाधान किया जा सकता है। इससे तो और अधिक भ्रांति एवं कष्ट ही उत्पन्न होगा। हमारी अनेक समस्याओं को तो तभी समझा जा सकेगा तथा उनका समाधान किया जा सकेगा जब हम स्वयं अपने प्रति एक समग्र प्रक्रिया के रूप में जागरूक हों, अर्थात जब हम अपनी समस्त मनोवैज्ञानिक रचना को समझें; कोई भी धार्मिक अथवा राजनीतिक नेता इस अवबोध की कुंजी को हमें नहीं दे सकता।

अपने को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम केवल व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं वरन सम्पत्ति के साथ, विचारों के साथ तथा प्रकृति के साथ अपने सम्बन्धों के प्रति भी जागरूक हों। यदि मानव-सम्बन्ध में हम एक वास्तविक उत्क्रान्ति चाहते हैं— मानव-समाज जो कि समस्त समाज का आधार है— तो हमारे अपने मूल्यों में तथा दृष्टिकोण में एक मौलिक परिवर्तन आवश्यक है, परन्तु हम आभ्यंतर के इस मूलभूत तथा अत्यावश्यक परिवर्तन से अपने को बचाते हैं और संसार में राजनीतिक क्रान्ति करने की चेष्टा करते हैं। इस तरह की क्रान्ति हमें सदा रक्तपात तथा विनाश की ही ओर ले जाती है ।

उत्तेजना पर आधारित सम्बन्ध कभी भी अहं से, स्व से, विमुक्ति का साधन नहीं बन सकता; फिर भी हमारे अधिकांश सम्बन्ध उत्तेजना पर आधारित हैं; व्यक्तिगत लाभ, सुविधा, मनोवैज्ञानिक सुरक्षा ही हमारी वासना के वे परिणाम हैं। हो सकता है कि उनके द्वारा कुछ क्षणों के लिए हम अहं से पलायन कर सकें, पर ऐसे सम्बन्ध अहं को तथा उसकी परिसीमित करने वाली एवं बन्धन में डालने वाली क्रियाओं को ही शक्ति प्रदान करते हैं। सम्बन्ध एक दर्पण है जिसमें अहं को तथा उसकी क्रियाओं को देखा जा सकता है; और जब सम्बन्ध की प्रतिक्रियाओं में अहं की प्रक्रिया को समझा जाता है तभी अहं से सृजनशील मुक्ति मिलती है।

विश्व में परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि हमारे अन्दर एक पुनरुज्जीवन हो। हिंसा से एवं एक-दूसरे का नाश करने से कुछ भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता। किन्हीं समूहों में सम्मिलित होकर, सामाजिक तथा आर्थिक सुधार के तरीकों का अध्ययन करके, कानून बना कर, अथवा प्रार्थना करके हमें अस्थायी छुटकारा तो मिल सकता है; परन्तु हम चाहे जो कुछ भी करें, बिना आत्मज्ञान

तथा उसमें निहित प्रेम के हमारी समस्याओं का विस्तार होता जायेगा तथा उनकी संख्या बढ़ती जायेगी। दूसरी ओर यदि हम अपने मस्तिष्क तथा हृदय को स्वयं को जानने के कार्य में लगायें, तो निस्संदेह हम अपने अनेक द्वन्द्वों तथा दुखों का हल खोज लेंगे।

आधुनिक शिक्षा हमें विचारहीन इकाइयों के रूप में विकसित कर रही है; अपनी व्यक्तिगत जीविका खोजने में वह हमारी कोई सहायता नहीं करती। हम कुछ परीक्षाएँ पास करते हैं और यदि भाग्यशाली हैं तो कोई नौकरी पा लेते हैं—जिसका अर्थ है शेष जीवन को एक ऐसी दिनचर्या में व्यतीत कर देना जिसका कोई अन्त ही नहीं है। यह हो सकता है कि हम अपनी नौकरी अथवा अपने व्यवसाय को पसन्द न करते हों, परन्तु हम उसी में लगे रहने के लिए बाध्य हैं, क्योंकि हमारे पास जीविकोपार्जन का दूसरा कोई साधन नहीं है। हो सकता है कि हम कोई दूसरा पूर्णतया भिन्न कार्य ही करना चाहते हों, परन्तु हमारे वायदे तथा हमारे दायित्व हमें पकड़े रहते हैं; और हमारी अपनी ही चिन्ताएँ तथा आशंकाएँ हमें अपने बाड़े में बन्द रखती हैं। हम निराश या व्यग्र होकर पलायन के लिए कामवासना, शराब, राजनीति अथवा काल्पनिक धर्म की शरण में जाते हैं।

जब हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ निष्फल हो जाती हैं तो साधारण-सी वस्तुओं को भी हम अनावश्यक महत्त्व देने लगते हैं और इस प्रकार किसी मनोवैज्ञानिक विकृति का विकास कर लेते हैं। जब तक अपने जीवन के तथा प्रेम के विषय में, अपनी राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक वासनाओं के तथा उनके साथ संलग्न उनकी आवश्यकताओं तथा बाधाओं के विषय में भी, हमें एक व्यापक अवबोध नहीं होता तब तक अपने सम्बन्धों में हमारी समस्याएँ निरन्तर बढ़ती जायेंगी जो हमें कष्ट एवं विनाश की ओर ले जायेंगी।

अज्ञान का अर्थ 'स्व' की प्रक्रिया के ज्ञान का अभाव है और इस अज्ञान का नाश सतही क्रियाओं एवं सुधारों से नहीं किया जा सकता; उसका नाश तभी हो सकता है जब व्यक्ति समस्त सम्बन्धों के बीच 'स्व' की गति तथा उसकी अनुक्रियाओं के प्रति निरन्तर जागरूक हो।

हमें यह समझना चाहिए कि हम केवल परिवेश द्वारा संस्कारबद्ध नहीं होते, बल्कि हम स्वयं ही परिवेश हैं— हम उससे पृथक कोई वस्तु नहीं हैं। हमारे विचार तथा हमारी अनुक्रियाएँ उन मूल्यों के द्वारा संस्कारबद्ध हैं जिन्हें इस समाज ने, जिसके हम भी एक अंग हैं, हमारे ऊपर आरोपित किया है।

हम यह कभी नहीं देखते कि हम ही समस्त परिवेश हैं, क्योंकि हममें अनेक इकाइयाँ हैं और वे सब 'मेरे' अथवा 'स्व' के चारों ओर घूमती रहती हैं। इन्हीं इकाइयों से, जो कि वासनाओं के इस पुंजीभूत रूप से एक केन्द्रीय आकृति का, विचारक का, 'मैं' और 'मेरे' के संकल्प का, उदय होता है; और इस प्रकार, जो 'स्व' है तथा जो 'स्व' नहीं है उसके बीच 'मैं' तथा परिवेश अथवा समाज के बीच, विभाजन की स्थापना होती है। यही पृथकता आंतरिक तथा बाह्य द्वन्द्वों का समारम्भ है।

इस समस्त चेतन एवं प्रच्छन्न प्रक्रिया के प्रति जागरूकता ही ध्यान है; इसी ध्यान के माध्यम से अहं तथा उसकी वासनाओं एवं द्वन्द्वों का अतिक्रमण किया जाता है। यदि व्यक्ति उन प्रभावों तथा मूल्यों से मुक्ति चाहता है, जो 'स्व' को शरण देते हैं, तो आत्मज्ञान आवश्यक है; और केवल इसी मुक्ति में सृजनशीलता है, सत्य है, ईश्वर है, अथवा और जो कुछ भी आप कहें, है।

मत एवं परम्पराएँ हमारे विचारों एवं भावनाओं को शैशवावस्था से ही साँचे में ढालने लगती हैं। तात्कालिक प्रभावों तथा छापों का परिणाम बड़ा शक्तिशाली तथा स्थायी होता है, और वह हमारे चेतन तथा अचेतन जीवन की समस्त धारा का ही स्वरूप निर्धारित करता है। शिक्षा तथा समाज के प्रभाव के द्वारा बालपन से ही हमें अनुयायी होना सिखा दिया जाता है।

अनुकरण करने की इच्छा हमारे जीवन में एक बड़ा प्रभावी तत्व है, और यह अनुकरण केवल सतही स्तरों पर ही नहीं होता, वरन गहराई में भी होता है। हमारे विचार तथा भावनाएँ शायद ही कभी स्वतन्त्र होते हों। विचार तथा भावनाएँ जब कभी हमारे अन्दर आते हैं तो ये केवल प्रतिक्रियाएँ मात्र होती हैं और इस प्रकार वे प्रचलित प्रारूप से विमुक्त नहीं होती; क्योंकि प्रतिक्रिया में तो स्वतन्त्रता होती नहीं।

दर्शन तथा धर्म ने कुछ प्रणालियाँ बताई हैं जिनके द्वारा हम सत्य अथवा ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं; फिर भी केवल किसी प्रणाली का अनुगमन करना विचारहीन तथा विभाजित बने रहना है, हमारे दैनिक सामाजिक जीवन में वह प्रणाली चाहे कितनी भी उपयोगी क्यों न प्रतीत होती हो। अनुयायी होने की प्रेरणा सुरक्षा की वासना द्वारा हासिल है, वह भय उत्पन्न करती है तथा राजनीतिक एवं धार्मिक सत्ताओं को प्रमुखता प्रदान करती है— उन नेताओं तथा नायकों को भी प्रमुखता प्रदान करती है जो अधीनता को प्रोत्साहित करते हैं तथा जिनके द्वारा

हमारे ऊपर सूक्ष्म अथवा स्पष्ट रूप में अधिकार जमाया जाता है। परन्तु अनुयायी होने को न स्वीकार करना भी सत्ता के विरोध में केवल एक प्रतिक्रिया मात्र ही है, और वह भी समन्वित मनुष्य बनने में हमारी किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करता। यही नहीं, प्रतिक्रिया का कोई अन्त नहीं होता, वह आगे भी प्रतिक्रिया ही उत्पन्न करती रहती है।

भय मिश्रित समानरूपता स्वयं में एक बाधा है; परन्तु इस तथ्य का केवल बौद्धिक परिज्ञान बाधा का परिहार नहीं करेगा। जब हम अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से बाधाओं के प्रति जागरूक होते हैं तभी बिना दूसरे एवं अधिक गहरे अवरोधों को उत्पन्न किये हम इनसे मुक्त हो सकते हैं।

जब हम अपने अभ्यान्तर में पराश्रित होते हैं तो परम्परा की हमारे ऊपर गहरी पकड़ होती है; और एक ऐसा मन जो परम्परागत ढंग से सोचता आया है उसको नहीं खोज सकता जो नवीन है। अनुयायी होकर हम एक सामान्य अनुकरणकर्त्ता बन जाते हैं, समाज के क्रूर यंत्र के एक पुर्जे मात्र। महत्त्वपूर्ण वह है जो 'हम' सोचते हैं न कि वह जो दूसरे 'चाहते' हैं कि हम सोचें। जब हम किसी परम्परा के अनुरूप बनते हैं, तब हम शीघ्र जो होना चाहिए उसकी प्रतिलिपि मात्र बन जाते हैं।

'जो होना चाहिए' की यह नकल केवल भय उत्पन्न करती है; और भय सृजनशील विचारणा को नष्ट कर देता है। भय वस्तुतः मन तथा हृदय को ऐसा स्फूर्तिविहीन बना देता है कि हम जीवन के सम्पूर्ण महत्त्व के प्रति सचेत नहीं रहते; हम स्वयं अपने दुखों के प्रति, पक्षियों के उड़ान के प्रति, दूसरों की मुस्कानों तथा उनके कष्टों के प्रति, असंवेदनशील हो जाते हैं।

चेतन तथा अचेतन भय के अनेक भिन्न कारण होते हैं, और उन सबसे मुक्त होने के लिए सक्रिय जागरूकता की आवश्यकता होती हैं। भय को अनुशासन, उन्नयन अथवा संकल्प के अन्य कार्यों द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। आवश्यकता उसके कारणों को खोजने की तथा उन्हें समझने की होती है। इसके लिए धैर्य की तथा जागरूकता की आवश्यकता होती है— ऐसी जागरूकता जिसमें किसी प्रकार का निर्णय नहीं हो।

अपने चेतन भयों को समझना तथा दूर करना अपेक्षाकृत सरल होता है। परन्तु अचेतन भयों का तो हममें से अधिकांश को पता भी नहीं होता, क्योंकि हम उन्हें कभी ऊपरी सतह पर आने ही नहीं देते; और किन्हीं अनोखे अवसरों

पर जब वे कभी ऊपर सतह पर आ भी जाते हैं तो उनसे पलायन हेतु हम शीघ्रता से उन्हें छिपा देते हैं। प्रच्छन्न भय अपनी उपस्थिति का ज्ञान प्रायः स्वप्न तथा दूसरे प्रकार के संकेतों के द्वारा देते हैं, तथा सतही भयों की तुलना में वे कहीं अधिक अवनति तथा द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं।

हमारा जीवन ऊपरी सतह पर ही नहीं होता, उसका अधिकांश भाग हमारे सामान्य निरीक्षण की सीमाओं के बाहर रहता है। यदि हम अपने छिपे हुए भय को बाहर आने देना तथा समाप्त होने देना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि चेतन मन कुछ शान्त रहे, न कि सर्वदा व्यस्त ही रहे; तब, जब ये भय ऊपरी सतह पर आते हैं, उनका बिना किसी विलम्ब या बाधा के परीक्षण होना चाहिए, क्योंकि किसी भी प्रकार का तिरस्कार अथवा औचित्य-समर्थन भय को केवल शक्तिशाली ही बनाता है। समस्त भय से मुक्ति के लिए हमें उसके हानिकर प्रभाव के प्रति सजग होना चाहिए। यह सतत सजगता ही उसके अनेक कारणों को खोलकर प्रकट करेगी।

मानव-जीवन में सत्ता की स्वीकृति भय के अनेक परिणामों में से एक है। सही होने की, सुरक्षित होने की, सुखी होने की, एवं चेतन स्तर पर कोई द्वन्द्व अथवा परेशीनी न रहे, इन्हीं वासनाओं ने सत्ता को उत्पन्न किया है। परन्तु कोई वस्तु, जो भय का परिणाम है, हमारी समस्याओं को समझने में हमारी सहायता नहीं कर सकती, चाहे भय आदर का रूप धारण कर ले अथवा तथाकथित विद्वान व्यक्ति की आज्ञापालन का। सुविज्ञ व्यक्ति सत्ता का प्रयोग नहीं करता, और जो सत्ता में होते हैं वे सुविज्ञ नहीं होते। भय चाहे किसी रूप में क्यों न हो, वह आत्मबोध एवं अन्य वस्तुओं से हमारे सम्बन्ध-भाव में अवरोधक होता है।

सत्ता का अनुगमन प्रज्ञा का निषेध है। सत्ता की स्वीकृति का अर्थ है प्रभुता के समक्ष आत्म-समर्पण, उसका अर्थ यह भी है कि अपने को किसी व्यक्ति के, किसी समूह के अथवा किसी विचार-प्रणाली के, चाहे वह धार्मिक हो अथवा राजनीतिक, अधीन कर देना; और अपने को सत्ता के अधीन कर देना न केवल प्रज्ञा का निषेध है, बल्कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भी निषेध है। किसी मत अथवा विचारों की किसी प्रणाली का अनुपालन हमारी आत्म-सुरक्षा की प्रतिक्रिया है। सत्ता को स्वीकार करना हमारी कठिनाइयों तथा समस्याओं के समाधान में अस्थायी रूप से हमारी सहायता कर सकता है; परन्तु किसी समस्या से पलायन करना तो उसे और अधिक गहरा बनाना है, और उस प्रक्रिया में आत्मज्ञान तथा स्वतन्त्रता की प्रायः उपेक्षा हो जाती है।

मुक्ति तथा सत्ता के स्वीकार में कैसे कोई समझौता हो सकता है? यदि समझौता है तो वे व्यक्ति, जो कहते हैं कि वे आत्मज्ञान तथा मुक्ति की खोज कर रहे हैं, अपने प्रयत्न में ईमानदार नहीं है। ऐसा हमें प्रतीत होता है कि मुक्ति एक चरम लक्ष्य है, एक साध्य है, और मुक्त होने के लिए हम यह आवश्यक समझने लगते हैं कि हमें पहले विभिन्न प्रकार के दमन तथा संत्रास के अधीन अपने को करना होगा। हम अनुयायी होकर मुक्ति की उपलब्धि की आशा रखते हैं; परन्तु क्या साधन भी उतने ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितना साध्य? क्या साधन साध्य के रूप का निर्धारण नहीं करते?

शांति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम शांतिपूर्ण साधनों का उपयोग करें; क्योंकि यदि साधन ही हिंसक हैं तो साध्य शांतिपूर्ण कैसे होगा? यदि लक्ष्य मुक्ति है तो आरम्भ ही मुक्ति से होना चाहिए, क्योंकि अन्त एवं आरम्भ एक ही है। आत्म-ज्ञान तथा प्रज्ञा केवल तभी सम्भव होते हैं जब आरम्भ में ही स्वतन्त्रता या मुक्ति होती है; एवं सत्ता की स्वीकृति से मुक्ति का निषेध होता है।

हम ज्ञान, सफलता, शक्ति आदि, विभिन्न रूपों में, सत्ता की उपासना करते हैं। हम छोटों के ऊपर सत्ता का प्रयोग करते हैं और साथ-ही-साथ हम सत्ताधारी से भयभीत भी रहते हैं। जब व्यक्ति में स्वयं की आंतरिक दृष्टि नहीं होती तो बाह्य शक्ति एवं पद बहुत बड़ा महत्त्व ले लेता है और तब व्यक्ति अधिकाधिक सत्ता एवं दबाव के अधीन हो जाता है; वह दूसरों का साधन मात्र बन जाता है। यही प्रक्रिया हमारे चारों ओर हो रही है और उसे हम देख सकते हैं। संकट के क्षणों में प्रजातांत्रिक देश भी अधिनायकवादी देशों की भाँति ही कार्य करने लगते हैं, वे अपने प्रजातंत्र को भूल जाते हैं और बाध्य करते हैं कि मनुष्य अनुयायी एवं व्यवस्था के अनुरूप बने।

प्रभुत्व की तथा प्रभुत्व को स्वीकार करने की वासना के पीछे जो बाध्यता है, यदि हम उसे समझ सकें तो सत्ता, जिसका अशक्त करनेवाला प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है, उससे सम्भवतः हम मुक्त हो सकते हैं। हमारे अन्दर निश्चित होने की, ठीक बनने की, सफल होने की, ज्ञान प्राप्त करने की लालसा रहती है; निश्चितता की एवं स्थायित्व की यह लालसा हमारे अन्दर व्यक्तिगत अनुभव की सत्ता निर्मित करती है। परन्तु सत्ता की केवल उपेक्षा करने का, उसके केवल बाह्य प्रतीकों को त्याग देने का कोई महत्त्व नहीं है।

एक परम्परा से पृथक होकर दूसरे के अनुरूप बनना, एक नेता को छोड़कर दूसरे का अनुयायी बनना, यह एक छिछला व्यवहार है। यदि हम सत्ता की सम्पूर्ण प्रक्रिया के प्रति जागरूक होना चाहते हैं, यदि हम उसकी आंतरिक वास्तविकता को जानना चाहते हैं, यदि हम निश्चितता की वासना को समझना और अतिक्रमण करना चाहते हैं, तो हमें व्यापक जागरूकता को तथा अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करना पड़ेगा। हमें अन्त में नहीं वरन् आरम्भ से ही मुक्त होना पड़ेगा।

निश्चितता अथवा सुरक्षा की लालसा स्व की अनेक प्रमुख क्रियाओं में से एक है, और यह एक ऐसी जबरदस्त प्रेरणा है जिस पर निरन्तर ध्यान रखना चाहिए। उसको केवल तोड़ना, मरोड़ना या शक्ति द्वारा दूसरी दिशा में लगाना अथवा किसी इच्छित प्रारूप के अनुरूप बनाना नहीं है। स्व अर्थात 'मैं' और 'मेरा' हममें से अधिकांश व्यक्तियों में बड़ा शक्तिशाली रहता है। परन्तु जब स्व के प्रति जागरूकता होती है और इसकी आत्मानुभूति होती है कि उसकी समस्त क्रियाएँ चाहे कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हों हमें अनिवार्यतः द्वन्द्व और कष्ट में ले जाती हैं, तो निश्चितता एवं आत्मसातत्य की आकांक्षा का पर्यावसान हो जाता है। 'स्व' की प्रक्रिया तथा उसकी चालाकियों को प्रकाश में लाने के लिए व्यक्ति को निरन्तर उसके प्रति सचेत रहना पड़ता है; परन्तु जब हम उनको समझ रहे होते हैं, उस सत्ता के तमाम निहितार्थों को एवं उस सबको जो सत्ता द्वारा स्वीकृति एवं निषेध में निहित होता है, इस तरह हम सत्ता के फंदे से अपने को मुक्त कर रहे होते हैं।

जब तक मन स्वयं अपनी सुरक्षा की वासना से नियन्त्रित रहता है तथा प्रभावित रहता है, तब तक स्व तथा उसकी समस्याओं से मुक्ति सम्भव नहीं है; यही कारण है कि रूढ़ि-सिद्धान्त और संगठित विश्वास जिसे हम धर्म कहते हैं स्व से मुक्ति नहीं दिला पाते। रूढ़ि-सिद्धान्त और विश्वास हमारे अपने मन के प्रक्षेपण-मात्र हैं। कर्मकाण्ड, पूजा, ध्यान के प्रचलित रूप, निरन्तर जपे जानेवाले शब्द तथा मंत्र, कुछ ऐसी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर सकते हैं जिनसे हमें परितोष होता है, परन्तु वे स्व तथा उसकी क्रियाओं से मन को विमुक्त नहीं करते; क्योंकि स्व अनिवार्यतः इन्द्रिय-जनित ज्ञान का परिणाम है।

दुख के क्षण में हम तथाकथित ईश्वर की ओर मुड़ते हैं, जो कि स्वयं हमारे अपने मन का एक प्रतिबिम्ब मात्र है; अथवा हम कुछ परितोष देनेवाली व्याख्यायें प्राप्त कर लेते हैं और यह हमें अस्थायी आराम देता है। धर्म जिसका हम

अनुकरण करते हैं वे हमारी आशाओं तथा आशंकाओं से, हमारी आंतरिक सुरक्षा और विश्वास की वासनाओं से ही बने हैं; और सत्ता की उपासना से— चाहे वह पैगम्बर की उपासना हो अथवा सिद्ध पुरुषों की अथवा पुरोहितों की— केवल अधीनता, स्वीकृति तथा अनुकृति से ही आती है। इस प्रकार ईश्वर के नाम पर हमारा शोषण किया जाता है, उसी तरह से जैसे पार्टियों के तथा विचार-प्रणालियों के नाम पर हमारा शोषण होता है और हम इसी प्रकार दुख भोगते हैं।

हम सभी मनुष्य हैं, हम चाहे किसी भी नाम से हम अपने को पुकारें पर पीड़ा हमारी नियति है। दुख के हम सभी भोक्ता हैं, चाहे हम आदर्शवादी हों अथवा भौतिकवादी। आदर्शवाद यथार्थ से पलायन है, और भौतिकवाद भी वर्तमान की असीम गहराइयों को अस्वीकार करने का एक दूसरा तरीका है। आदर्शवादी तथा भौतिकवादी दोनों के पास दुख की ही जटिल समस्या से बचाव के अपने तरीके हैं; दोनों ही स्वयं अपनी वासनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं तथा द्वन्द्वों से परिपूर्ण हैं और उनके जीवन के तरीके शांति के अनुकूल नहीं हैं। विश्व में भ्रांति और कष्ट के लिए वे दोनों ही जिम्मेदार हैं।

जब हम द्वन्द्व की, दुख-भोग की अवस्था में होते हैं, तो अवबोध का प्रश्न ही नहीं उठता; उस अवस्था में हमारा कार्य चाहे जितनी चतुराई एवं सावधानी से सोच कर किया गया हो, वह और अधिक भ्रान्ति तथा दुख ही उत्पन्न करता है। इसलिए द्वन्द्व को समझने के लिए और उससे मुक्त होने के लिए मन की चेतन तथा अचेतन प्रक्रियाओं के प्रति जागरूक होना आवश्यक है।

कोई भी आदर्शवाद, विचार-प्रणाली या प्रारूप का कोई भी प्रकार, मन के प्रच्छन्न कार्यों को खोलकर रखने में हमारी सहायता नहीं कर सकता; इसके विपरीत सभी प्रकार के सूत्र अथवा निष्कर्ष उनकी खोज में बाधा ही उत्पन्न करते हैं। 'जो होना चाहिए' उसका अनुशीलन तथा सिद्धान्तों, आदर्शों एवं किसी लक्ष्य की स्थापना के प्रति आसक्ति ये सब विभ्रान्ति के जन्मदाता हैं। यदि हमें अपने को जानना है तो सहजता का, अन्वीक्षण के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता का होना आवश्यक है और जब मन पिछले आदर्शवादी अथवा भौतिकवादी मूल्यों के घेरे में बन्द है तो ऐसा होना सम्भव नहीं है।

अस्तित्व सम्बन्ध है; हम चाहे किसी संगठित धर्म के माननेवाले हों या न हों, चाहे हम सांसारिक हों अथवा आदर्शों से बँधे हों, हमारे कष्टों का समाधान

केवल इसमें है कि सम्बन्धों के बीच हम अपने को समझें। आत्मज्ञान ही केवल मनुष्य के लिए शान्ति एवं सुख ला सकता है क्योंकि वही प्रज्ञा तथा समन्वीकरण का समारम्भ है। प्रज्ञा केवल छिछला सामंजस्य नहीं है; वह मन का पोषण अथवा ज्ञान का संकलन नहीं है। प्रज्ञा वस्तुतः जीवन की विधि को समझने की क्षमता है, वह उचित मूल्यों का अवलोकन है।

आधुनिक शिक्षा बुद्धि का विकास करने के लिए बिना मानव-अस्तित्व की समस्त प्रक्रिया का अवबोध किये अधिकाधिक सिद्धान्तों एवं तथ्यों को प्रस्तुत करती है। हम अत्यधिक बौद्धिक हैं; हमने चतुर मन का विकास कर लिया है और व्याख्यानों के जाल में हम फँस गये हैं। बुद्धि वस्तुतः सिद्धान्तों और व्याख्यानों से सन्तुष्ट होती है परन्तु प्रज्ञा नहीं होती; जबकि अस्तित्व की समग्र प्रक्रिया को समझने के लिए यह आवश्यक है कि मन और हृदय दोनों का कर्म में समन्वय हो, प्रज्ञा प्रेम से अलग नहीं है।

इस आन्तरिक क्रांति को अपने भीतर घटित करना हममें से अधिकांश के लिए अत्यधिक कठिन है। हम जानते हैं कि ध्यान कैसे किया जाता है, पियानों कैसे बजाया जाता है, कैसे लेखन-कार्य किया जाता है, परन्तु हमें ध्यानकर्त्ता का, संगीतज्ञ का तथा लेखक का कोई ज्ञान नहीं है। हम सर्जक नहीं है, क्योंकि हमने अपने हृदय तथा मस्तिष्क को ज्ञान, सूचना और अहंकार से भर लिया है; दूसरों ने क्या कहा है अथवा क्या सोचा है। उसके उद्धरणों से हम भरे हुए हैं। परन्तु पहले अनुभव-क्रिया आती है न कि अनुभव-क्रिया की शैली। प्रेम की अभिव्यक्ति के पहले यह आवश्यक है कि प्रेम हो।

तो स्पष्ट है कि केवल बुद्धि का पोषण करने से; अर्थात क्षमता अथवा ज्ञान का विकास करने से, प्रज्ञा नहीं उत्पन्न होती है। बुद्धि तथा प्रज्ञा में अन्तर है। बुद्धि वस्तुतः विचार है जो संवेगों से स्वतन्त्र होकर कार्य करती है जबकि प्रज्ञा में संवेग तथा तर्क-बुद्धि दोनों की क्षमता है; केवल बुद्धि अथवा संवेग के द्वारा जीवन को समझने के स्थान पर जब तक हम प्रज्ञा से जीवन को नहीं समझेंगे, विश्व की कोई राजनीतिक अथवा शैक्षिक व्यवस्था हमें दुर्व्यवस्था तथा विनाश के कष्टों से नहीं बचा सकेगी।

ज्ञान की वस्तुतः प्रज्ञा से कोई तुलना नहीं है; ज्ञान विवेक नहीं है। विवेक कोई व्यवसाय की वस्तु नहीं है, वह कोई व्यापारिक माल नहीं है जिसे अनुशासन या विद्वता का मूल्य देकर खरीदा जा सके। विवेक पुस्तकों से नहीं हासिल हो सकता; उसको न तो एकत्र किया जा सकता है, न रटा जा सकता है, न भण्डार

में भरा जा सकता है। विवेक 'स्व' के निषेध से आता है। खुला हुआ मन विद्वत्ता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है; परन्तु यह खुला हुआ मन हम सूचनाओं की भीड़ से भर कर नहीं प्राप्त कर सकते। उसे अपने विचारों और भावनाओं के प्रति जागरूक होकर, स्वयं अपने तथा अपने चारों ओर के प्रभावों का सावधानी से अन्वीक्षण करके, दूसरों को सुन करके, धनी-निर्धन एवं शक्तिशाली तथा कमजोर को समझ करके ही प्राप्त किया जा सकता है। विवेक वस्तुतः भय और उत्पीड़न से नहीं आता, वह मानव-सम्बन्ध की प्रतिदिन की घटनाओं को देखने तथा समझने से आता है।

ज्ञान की अपनी खोज में, अपनी परिग्रही वासनाओं के कारण, हम प्रेम को खो रहे हैं, सौन्दर्य के प्रति अपनी भावना एवं क्रूरता के प्रति अपनी संवेदनशीलता को फूहड़ बना रहे हैं; हम अधिकाधिक विशेषज्ञ और उतने ही कम संवेदनशील होते जा रहे हैं। विवेक का स्थान ज्ञान नहीं ले सकता। व्याख्या कितनी भी मात्रा में हो, तथ्यों का कितना भी संकलन किया जाय, वह मनुष्य को दुखभोग से मुक्त नहीं करेगा। ज्ञान आवश्यक है, विज्ञान का अपना स्थान है; परन्तु यदि ज्ञान द्वारा मन और हृदय का गला ही घोंट दिया जायेगा और दुख के कारण की व्याख्या कर दी जाया करेगी, तो जीवन अर्थहीन हो जायेगा और क्या ऐसा ही नहीं है जो हममें से अधिकांश के विषय में हो रहा है? हमारी शिक्षा हमें अधिकाधिक छिछला, बनाती जा रही है; अपने जीवन की गहरी सतहों को प्रकाश में लाने में वह हमारी सहायता नहीं कर रही है और हमारा जीवन अधिकाधिक असामञ्जस्यपूर्ण तथा खोखला होता जा रहा है।

सूचना एवं तथ्यों का ज्ञान यद्यपि निरन्तर बढ़ता जा रहा है परन्तु वह अपने स्वरूप से ही सीमित है। विवेक असीमित है, उसमें ज्ञान तथा कर्म दोनों ही सम्मिलित हैं; परन्तु हम अक्सर एक ही टहनी को पकड़ते हैं और समझते हैं कि वही पूरा वृक्ष है। किसी एक अंश के ज्ञान के द्वारा हम समग्र के आनन्द का साक्षात्कार कभी नहीं कर सकते। बुद्धि कभी पूर्णता तक नहीं पहुँच पाती है, क्योंकि वह केवल एक टुकड़ा है, एक अंशमात्र है।

हमने बुद्धि को भावना से अलग कर दिया है। यही नहीं, हमने भावना की कीमत पर बुद्धि का विकास किया है। हम एक तीन पैर वाली वस्तु की भाँति हैं जिसका एक पैर अन्य दो पैरों की अपेक्षा कहीं अधिक लम्बा है और इस प्रकार सामंजस्य या स्थिरता का अभाव हो जाता है। हमें बौद्धिक बनने के लिए प्रशिक्षित

किया गया है; हमारी शिक्षा बुद्धि का इस प्रकार पोषण करती है कि वह तीव्र, चतुर तथा परिग्रही बने, इसलिए हमारे जीवन में वह सर्वाधिक महत्त्व की भूमिका अदा करती है। बुद्धि से प्रज्ञा कहीं अधिक बड़ी है, क्योंकि उसमें प्रेम और तर्क-बुद्धि का समन्वय है; परन्तु प्रज्ञा केवल वहीं सम्भव है जहाँ आत्मज्ञान है, जहाँ अपनी समस्त प्रक्रिया का गहरा अवबोध है।

चाहे वह युवा हो अथवा वृद्ध, मनुष्य के लिए यही अनिवार्य है कि वह पूर्णता के साथ तथा समन्वित रूप में जीवित रहे, और यही कारण है कि हमारी मुख्य आवश्यकता उस प्रज्ञा का पोषण है जो समन्वय लाती है। अपने समग्र व्यक्तित्व के किसी एक अंश पर अधिक बल देना जीवन के प्रति आंशिक और इसीलिए विकृत दृष्टि प्रदान करना है, और दृष्टि का यही बिगड़ा रूप हमारी अधिकांश कठिनाइयों का कारण है। हमारे स्वभाव में से उसके किसी अंश मात्र का विकास निश्चय ही हमारे और समाज दोनों के लिए घातक सिद्ध होगा और इसलिए यह वास्तव में अत्यन्त आवश्यक है कि हम एक समन्वित दृष्टि से मानव-समस्याओं का अध्ययन करें।

समन्वित मनुष्य बनने का अर्थ है कि हम अपनी प्रच्छन्न और प्रकट चेतना की समस्त प्रक्रिया को समझें। परन्तु यह सम्भव नहीं है, यदि हम बुद्धि को अनावश्यक महत्त्व देते हैं। हम मन के पोषण को अधिक महत्त्व देते हैं, परन्तु आभ्यन्तर में हम अपूर्ण हैं; निर्धन हैं, तथा भ्रांत हैं। बुद्धि में ही सदा जीना विघटन का मार्ग है; क्योंकि विश्वासों की भाँति विचार भी मनुष्यों को एक साथ नहीं ला सकते, वे उन्हें प्रतिद्वन्द्वी समूहों में ही बाँट सकते हैं।

यदि हम समन्वय के लिए विचार को साधन मानकर उस पर निर्भर करते हैं, तो विघटन अनिवार्य हो जाता है; विचार के इस विघटित करनेवाले कार्य को समझना ही स्व की प्रक्रिया को, स्वयं अपनी वासना की प्रक्रिया को, समझना है। हमें अपनी संस्कारबद्धता और उसकी प्रतिक्रियाओं के प्रति जागरूक होना आवश्यक है, चाहे ये सामूहिक हों अथवा व्यक्तिगत। परस्पर विरोधी वासनाओं तथा अनुशीलनों एवं आशाओं तथा आशंकाओं से पूर्ण स्व की क्रियाओं के प्रति जब व्यक्ति पूर्णतया जागरूक होता है तभी स्व का अतिक्रमण करने की कोई सम्भावना होती है।

केवल प्रेम और सम्यक् विचारणा की सच्ची क्रान्ति ही, हमारे आभ्यन्तर में क्रान्ति, उत्पन्न करेंगे। परन्तु हम प्रेम कैसे प्राप्त करें? प्रेम को प्रेम के आदर्श

का अनुशीलन करने से नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह केवल तभी सम्भव है जब घृणा नहीं होती, जब लोलुपता नहीं होती, जब अहं के बोध का, जो कि वैमनस्य का कारण है, पर्यावसान हो जाता है। एक मनुष्य जो शोषण, लोलुपता एवं द्वेष में उलझा है, कभी प्रेम नहीं कर सकता।

बिना प्रेम और सम्यक् विचारणा के उत्पीड़न और क्रूरता निरन्तर बढ़ेगी। मनुष्य और मनुष्य के बीच वैमनस्य की समस्या का समाधान शान्ति के आदर्श का अनुगमन करके नहीं किया जा सकता बल्कि वह युद्ध के कारणों को समझ करके ही किया जा सकता है। यह 'कारण' , जीवन के प्रति, अपने साथियों के प्रति, हमारे दृष्टिकोण में निहित है; और वह अवबोध केवल सम्यक् शिक्षा के द्वारा ही आ सकता है। हृदय परिवर्तन के अभाव में, सद्भावना के अभाव में, उस आन्तरिक परिवर्तन के अभाव में, जो कि स्व के प्रति जागरूकता से उत्पन्न होता है, इसके बगैर मनुष्य के लिए सुख एवं शान्ति सम्भव नहीं है।



शिक्षा और विश्व-शान्ति

वर्तमान-विश्व-संकट में शिक्षा क्या भूमिका अदा कर सकती है इसे जानने के लिए यह समझना आवश्यक है कि यह कैसे उत्पन्न हुआ। स्पष्ट है कि यह उन्हीं दोषपूर्ण मूल्यों का परिणाम है जो व्यक्तियों के साथ, सम्पत्ति के साथ और विचारों के साथ हमारे सम्बन्धों में जुड़ा हैं। यदि दूसरों के साथ सम्बन्ध आत्म-वृद्धि पर आधारित है और सम्पत्ति के विषय में हम परिग्रही हैं तो समाज की संरचना प्रतिद्वन्द्वात्मक तथा आत्मपृथक्करण की होगी। यदि विचारों के साथ अपने सम्बन्ध को लेकर हम एक विचार-प्रणाली के विरोध में दूसरी विचार-प्रणाली का समर्थन करते हैं तो अनिवार्यत: उसका परिणाम यही होगा कि हम परस्पर अविश्वास तथा दुर्भावना से ग्रस्त होंगे ।

वर्तमान संकट का दूसरा कारण सत्ता अथवा नेताओं पर आश्रित होना है, चाहे नित्य के जीवन में, चाहे छोटे से विद्यालय में, अथवा विश्वविद्यालय में। किसी भी संस्कृति के लिए नेता और उनकी सत्ता पतनोन्मुख तत्व होते हैं। जब हम दूसरे का अनुगमन करते हैं तो अवबोध नहीं होता, केवल भय तथा अनुकूलन होता है, जो अन्तत: अधिनायकवादी, राज्य की क्रूरता और संगठित धर्मों की रूढ़िवादिता तक ले जाता है।

उस शान्ति के लिए, जिसका समारम्भ स्वयं अपने अवबोध से होता है, सरकारों पर निर्भर करना, संगठनों और सत्ताधिकारियों से आशा करना, और अधिक व्यापक द्वन्द्व को उत्पन्न करना है; और जब तक हम एक ऐसे समाज को स्वीकार किये रहते हैं जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच एक कभी न अन्त होनेवाला द्वन्द्व है, तो स्थायी सुख सम्भव नहीं हो सकता। यदि हम वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तन करना चाहते हैं तो हमें पहले अपना परिवर्तन करना होगा। जिसका अर्थ है कि हम स्वयं प्रतिदिन के जीवन में अपनी क्रियाओं, विचारों और भावनाओं के प्रति जागरूक हों।

परन्तु वास्तव में हम शान्ति नहीं चाहते हैं, हम शोषण का अन्त भी नहीं करना चाहते हैं। हम नहीं चाहते कि हमारी लोलुपता में कोई बाधा पड़े अथवा

वर्तमान सामाजिक संरचना के आधारों में परिवर्तन किया जाय; हम चाहते हैं कि वस्तुएँ जैसी हैं वैसी ही, केवल सतही परिवर्तन के साथ, बनी रहें और इस कारण शक्तिशाली और चतुर व्यक्ति अनिवार्यतः हमारे जीवन पर शासन करते रहते हैं।

शान्ति किसी विचार प्रणाली के द्वारा नहीं उत्पन्न होती, वह कानून पर आश्रित नहीं है; वह तभी सम्भव होती है जब व्यक्ति के रूप में हम स्वयं अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझने लगते हैं। यदि हम व्यक्तिगत रूप से कार्य करने के अपने दायित्व से बचते हैं और किसी नवीन समाज-व्यवस्था की प्रतीक्षा करते हैं कि वह आये और शान्ति स्थापित करे, तो हम उस व्यवस्था के केवल दास ही बनेंगे।

जब सरकारें, अधिनायक, बड़े व्यापारी एवं धर्म के शक्तिशाली व्यक्ति यह देखने लगते हैं कि मनुष्यों के बीच निरन्तर बढ़नेवाले संघर्ष से केवल अनियन्त्रित विनाश उत्पन्न होता है और इसलिए वह उनके लिए लाभदायक नहीं रह गया है तो वे कानून अथवा दबाव के दूसरे साधनों के द्वारा हमें बाध्य कर सकते हैं कि हम अपनी व्यक्तिगत वासनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का दमन करें तथा मानव मात्र के कल्याण के लिए सहयोग करें। जैसे आज हमें प्रतिद्वन्द्वी तथा निष्ठुर बनने के लिए शिक्षित एवं प्रोत्साहित किया जाता है, उसी प्रकार तब एक-दूसरे का आदर करने के लिए एवं समस्त विश्व के लिए कार्य करने के लिए हमें बाध्य किया जायेगा।

और उस अवस्था में चाहे हम सभी को अच्छा भोजन, कपड़ा, और आवास मिले, परन्तु हम अपने द्वन्द्वों और संघर्षों से मुक्त नहीं हो पायेंगे। वे द्वन्द्व एवं संघर्ष केवल एक स्तर से हटकर दूसरे स्तर पर चले जायेंगे, जहाँ वे कहीं अधिक राक्षसी और विनाशकारी होंगे। केवल स्वैच्छिक कार्य ही नैतिक और उचित कार्य होते हैं और केवल अवबोध ही मनुष्य के लिए शान्ति और सुख ला सकता है।

विश्वास, विचार-प्रणालियाँ तथा संगठित धर्म हमारे पड़ोसियों के साथ विरोध पैदा करते हैं; द्वन्द्व केवल विभिन्न समाजों में ही नहीं है, वह उसी समाज के विभिन्न समूहों में भी है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि जब तक एक देश के साथ अपना तादात्म्य किये हैं, जब तक हम सुरक्षा से चिपके हैं, जब तक हम रूढ़िवादी-सिद्धान्तों से संस्कारबद्ध हैं, तब तक हमारे अपने अन्दर ही नहीं, विश्व में भी संघर्ष और कष्ट दोनों ही बने रहेंगे। राष्ट्रभक्ति की सारी समस्या तब ही आती है।

हम राष्ट्र-प्रेम का अनुभव कब करते हैं? स्पष्ट है कि वह नित्य-प्रति का कोई सामान्य संवेग नहीं है। बल्कि अनवरत प्रयत्न से हमें राष्ट्रभक्त बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, यह राष्ट्र-प्रेम स्कूल की पुस्तकों के द्वारा, समाचार-पत्रों के द्वारा तथा प्रोपेगैन्डा के दूसरे साधनों के द्वारा उत्पन्न किया जाता है; यह सब हमारे राष्ट्र-नायकों की प्रशंसा करके तथा यह बताकर कि हमारा अपना देश और उसकी जीवन-पद्धति दूसरों से बेहतर है, यह सब जातीय अभिमान को उत्प्रेरित करते हैं। बालपन से वृद्धावस्था तक राष्ट्र-भक्ति की यह भावना हमारे अहंकार को पोषित करती रहती है।

इस कथन की पुनरावृत्ति कि हम किसी विशेष राजनीतिक अथवा धार्मिक समूह के सदस्य हैं, कि हम इस देश के हैं या उस देश के, यह हमारे तुच्छ अहंकारों को बढ़ावा देती है और हम गुब्बारे की तरह फूल जाते हैं, और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक हम अपने देश, जाति अथवा विचार-प्रणाली के लिए मारने और मरने के लिए तैयार नहीं हो जाते। यह सब कितना मूर्खतापूर्ण और अस्वाभाविक है। राष्ट्रीय और वैचारिक सीमाओं की तुलना में मनुष्य निश्चय ही कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

राष्ट्रवाद वाली पृथक्करण की भावना आग की तरह विश्व के चारों ओर फैल रही है। जो लोग अधिकाधिक विस्तार, व्यापक शक्ति एवं समृद्धि की खोज में लगे हैं, उनके द्वारा राष्ट्रभक्ति को पोषित किया जाता है और बड़ी चतुराई से वे शोषण भी करते हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस प्रक्रिया में भाग लेता है क्योंकि हमें भी इन वस्तुओं की वासना है। दूसरे देशों तथा दूसरे व्यक्तियों पर विजय प्राप्त करना हमें केवल अपनी वस्तुओं के लिए नये बाजार ही नहीं प्रदान करता वरन हमारी राजनीतिक और धार्मिक विचार-प्रणालियों के लिए भी कार्य करता है।

हमें हिंसा तथा संघर्ष की इन सभी अभिव्यक्तियों को एक निष्पक्ष मन से देखना चाहिए, अर्थात एक ऐसे मन से जो किसी राष्ट्र, जाति अथवा विचार-प्रणाली के साथ अपना तादात्म्य नहीं करता वरन जो सत्य है उसका पता लगाने का प्रयत्न करता है। दूसरों के आदेशों और विचारों से बिना प्रभावित हुए— ये चाहे सरकार अथवा किसी विशेषज्ञ अथवा बड़े विद्वान के ही क्यों न हों— किसी वस्तु को साफ-साफ देखने में अत्यन्त आनन्द है। जब हम एक बार वास्तव में यह समझ

लेते हैं कि राष्ट्र-भक्ति मानव-सुख के लिए बाधा है तो हमें इस भ्रामक संवेग के विरोध में स्वयं अपने भीतर संघर्ष नहीं करना पड़ता; यह हमसे सदा के लिए विदा हो जाता है।

राष्ट्रवाद, राष्ट्रप्रेम की भावना, वर्ग और जाति की चेतना, आदि सभी 'स्व' की प्रक्रियाएँ हैं और इसलिए विघटनकारी हैं। आखिर एक राष्ट्र है क्या? केवल व्यक्तियों का एक समूह जो आर्थिक एवं आत्मसुरक्षा के कारणों से एक साथ रहता है। भय और परिग्रही आत्म-सुरक्षा से 'मेरा देश' का विचार जन्म लेता है, उसकी सीमाएँ और कर-निर्धारण के क्षेत्र निश्चित होते हैं, और इस प्रकार मनुष्य की एकता एवं भ्रातृत्व को असम्भव बना दिया जाता है।

कुछ प्राप्त करने तथा उसे सुरक्षित रखने की इच्छा, अपने से बड़ी किसी वस्तु के साथ तादात्म्य की लालसा, राष्ट्रवाद की भावना को जन्म देती है; और राष्ट्रवाद युद्ध उत्पन्न करता है। सभी देशों में सरकारें, संगठित धर्म का प्रोत्साहन पाकर, राष्ट्रवाद और उसकी पृथकतावादी भावनाओं को बनाये रखती हैं। राष्ट्रवाद एक बीमारी है, वह विश्व एकता कभी स्थापित नहीं कर सकता। हम स्वास्थ्य को बीमारी के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते, हमें पहले उस बीमारी से अपने को विमुक्त करना होगा।

चूँकि हम राष्ट्रवादी हैं इसलिए हम अपने सम्प्रभुराज्य की, अपने विश्वासों की और अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए तैयार हैं, और इसीलिए यह आवश्यक है कि हम निरन्तर अस्त्र-शस्त्र से सज्जित रहें। मनुष्य के जीवन की अपेक्षा सम्पत्ति और विचार हमारे लिए कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं, इसलिए हमारे और दूसरों के बीच निरन्तर संघर्ष और हिंसा बनी रहती है। अपने देश की सम्प्रभुता को सुरक्षित करके हम अपने पुत्रों को नष्ट कर रहे हैं; राज्य की उपासना करके, जोकि और कुछ नहीं हमारा ही प्रक्षेपण है, हम स्वयं अपने ही परितोष के लिए अपने बच्चों का बलिदान कर रहे हैं। राष्ट्रवाद और सम्प्रभु सरकारें युद्ध के कारण भी हैं और साधन भी।

हमारी वर्तमान सामाजिक संस्थायें विश्व-संघ में विकसित नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनका आधार ही दोषयुक्त है। संसदें और शिक्षा की प्रणालियाँ जोकि राष्ट्रीय प्रभुत्व एवं समूह के महत्त्व को गौरव देती हैं, कभी भी युद्ध का अन्त नहीं कर सकेंगी। व्यक्तियों के पृथक-पृथक समूह अपने-अपने शासकों एवं शासितों दोनों के साथ युद्ध का कारण बने हुए हैं। जब तक मनुष्य और मनुष्य के बीच

के वर्तमान सम्बन्धों में हम मौलिक परिवर्तन नहीं कर सकेंगे, सारे प्रयास अनिवार्यत: भ्रान्ति उत्पन्न करेंगे और विनाश तथा पीड़ा का साधन बन जायेंगे; जब तक हिंसा और उत्पीड़न है, प्रपंच और प्रोपेगेन्डा है, तब तक मनुष्यों के बीच भाईचारे को नहीं प्राप्त किया जा सकता।

केवल शिक्षण द्वारा बने हुए विलक्षण क्षमता वाले इन्जीनियर, प्रतिभाशाली वैज्ञानिक, सक्षम प्रशासक और कुशल कारीगर, उत्पीड़क और उत्पीड़ित को कभी भी एक साथ नहीं ला सकेंगे; और हमने देख लिया है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मनुष्यों के बीच बैर, घृणा उत्पन्न करने वाले अनेक कारणों को जीवित रखती है, उन सामूहिक हत्याओं को नहीं रोक सकती जो देश के नाम पर और ईश्वर के नाम पर की गयीं हैं।

दूसरी ओर संगठित धर्म भी, जिनकी अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक सत्ताएँ हैं, वह भी मनुष्य के लिए शान्ति नहीं ला सकते, क्योंकि वे भी तो हमारे अज्ञान और भय के, हमारी कल्पना और हमारे अहंवाद के, परिणाम हैं।

इस जीवन में अथवा इसके पश्चात भी सुरक्षित होने की लालसा में हम ऐसी संस्थाओं और विचार-प्रणालियों को जन्म देते हैं जो इस सुरक्षा का आश्वासन देती हैं; परन्तु जितना अधिक हम सुरक्षा के लिए संघर्ष करते हैं, उतनी ही कम वह हमें उपलब्ध होगी। सुरक्षित होने की लालसा केवल विभाजन को जन्म देती है और द्वेष बढ़ाती है। यदि हम इस सत्य को गहराई से अनुभव करें तथा उसको समझें— केवल शाब्दिक अथवा बौद्धिक रूप से ही नहीं वरन अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से— तो अपने चारों ओर के वर्तमान विश्व से अपने सभी मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्ध में हम मौलिक परिवर्तन करना आरम्भ कर देंगे; और केवल तभी एकता और भ्रातृत्व की उपलब्धि की कोई सम्भावना है।

हममें से अधिकांश व्यक्ति सभी प्रकार के भय से पीड़ित रहते हैं और स्वयं अपनी सुरक्षा के विषय में बड़े चिंतित रहते हैं। हमें आशा रहती है कि किसी रहस्यमय चमत्कार से युद्धों का अन्त हो जायेगा और बराबर हम दूसरे राष्ट्रीय समूहों पर यह आरोप लगाते रहते हैं कि वे युद्ध को भड़का रहे हैं, उसी तरह से जैसे वे उसके लिए हमारे ऊपर आरोप लगाते हैं। यद्यपि युद्ध समाज के लिए स्पष्टतया बड़ा हानिकारक है, परन्तु हम युद्ध की तैयारी करते हैं और युवकों में सैनिक भावना का विकास करते हैं।

परन्तु क्या शिक्षा में सैनिक प्रशिक्षण का कोई स्थान है? यह सब इस पर निर्भर करता है कि हम अपने बच्चों को किस प्रकार का मनुष्य बनाना चाहते हैं। यदि हम चाहते हैं कि वे कुशल हत्यारे बनें तो सैनिक प्रशिक्षण अनिवार्य है। यदि हम उन्हें अनुशासित करना चाहते हैं और उनके मन को नियंत्रित करना चाहते हैं, यदि हमारा लक्ष्य उनको राष्ट्रीयतावादी बनाना है और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज के प्रति गैरजिम्मेदार बनाना है, तो सैनिक प्रशिक्षण इसके लिए एक अच्छा मार्ग है। यदि हम मृत्यु और विनाश ही चाहते हैं तो स्पष्ट है कि सैनिक प्रशिक्षण आवश्यक है। सेनापतियों का तो यह कार्य ही है कि वे युद्ध की योजना बनायें तथा उन्हें कार्यान्वित करें और यदि हमारा यही अभिप्राय है कि अपने और अपने पड़ोसियों के बीच हम निरन्तर युद्ध बनाये रखें तो हर प्रकार से ठीक ही है कि हमारे पास अधिकाधिक सेनापति होने चाहिए।

यदि हम इसीलिए जीवित हैं कि हमारे अन्दर और दूसरों के साथ कभी न अन्त होने वाला कलह बना रहे, यदि हमारी इच्छा रक्तपात और कष्ट बनाये रखने की है, तो अधिकाधिक सैनिक होने चाहिए, अधिकाधिक राजनीतिज्ञ होने चाहिए, अधिकाधिक शत्रुता होनी चाहिए— यही है जो वास्तव में हो रहा है। आधुनिक सभ्यता हिंसा पर आधारित है और इसीलिए मौत सामने है। जब तक हम फौज की उपासना करते हैं, हिंसा हमारी जीवन पद्धति होगी। परन्तु यदि हम शान्ति चाहते हैं, यदि हम मनुष्यों में सम्बन्ध चाहते हैं, चाहे वे ईसाई हों अथवा हिन्दू, रूसी हों अथवा अमरीकी, यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे समन्वित मनुष्य बनें तो सैनिक प्रशिक्षण पूर्णतया एक बाधा है। उस पर चलना गलत मार्ग का अवलम्बन करना है।

यह विश्वास भी घृणा तथा कलह का प्रमुख कारण है कि कोई विशेष जाति अथवा वर्ग दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। बच्चे को न तो वर्ग की ही कोई चेतना होती है और न जाति की। घर का अथवा स्कूल का अथवा दोनों का परिवेश ही है जो उसमें पृथकता की भावना उत्पन्न करता है। स्वयं अपने में उसे इसकी चिन्ता नहीं होती कि उसके खेल का साथी निग्रो है अथवा यहूदी है, ब्राह्मण है अथवा अब्राह्मण है; परन्तु समस्त समाज-संरचना का प्रभाव उसके मन पर निरन्तर अपनी छाप डाल रहा है, उसे प्रभावित कर रहा है तथा उसे रूप प्रदान कर रहा है।

यहाँ पुनः समस्या का सम्बन्ध बच्चे से नहीं वरन प्रौढ़ों से हैं, जिन्होंने पृथकतावाद एवं भ्रामक मूल्यों का एक निरर्थक परिवेश निर्मित किया है।

मनुष्यों के बीच भेदभाव खड़ा करने का वास्तविक आधार क्या है? हमारे शरीर की रचना और हमारा रंग भिन्न हो सकता है, हमारे चेहरे असमान हो सकते हैं, परन्तु अन्दर से हम बहुत कुछ एक समान हैं : अहंकार, महत्त्वाकांक्षाएँ, द्वेष, हिंसा, काम-भावना, सत्ता-लोलुपता आदि-आदि। अपने ऊपर लगे हुए नाम के लेबिलों को हटाइये और हम बिल्कुल नग्न हैं; परन्तु हम उस नग्नता का सामना नहीं करना चाहते और इसीलिए हम लेबिलों पर जोर देते हैं जो इसका सूचक है कि हम कितने अपरिपक्व, वास्तव में कितने बचकाने हैं।

बच्चे का पूर्वाग्रह से मुक्त होकर विकास हो सके, इसमें बालक की सहायता करने के लिए व्यक्ति को पहले अपने अन्दर के सारे पूर्वाग्रहों को तोड़ना पड़ता है और तब अपने परिवेश के पूर्वाग्रह को तोड़ना पड़ता है— परिवेश के पूर्वाग्रह को तोड़ने का अर्थ इस विचार-शून्य समाज की संरचना को तोड़ देना है जिसे हमने बनाया है। घर में हम बालक से कह सकते हैं कि अपने वर्ग तथा जाति की चेतना कितनी मूर्खतापूर्ण बात है और सम्भवत: वह हमसे सहमत भी होगा; परन्तु जब वह स्कूल जाता है और दूसरे बालकों के साथ खेलता है तो वह पृथकतावादी भावनाओं से दूषित हो जाता है। यही बात दूसरे प्रकार से भी हो सकती है : घर परम्परावादी तथा संकीर्ण विचारोंवाला हो सकता है और स्कूल ऐसा न होकर व्यापक प्रभाववाला हो सकता है। दोनों ही स्थितियों में घर और स्कूल के परिवेश के बीच निरन्तर संघर्ष होता है और बालक उन दोनों के बीच फँस जाता है।

बच्चों का सम्यक् रूप से विकास करने के लिए, वह इन मूर्खतापूर्ण पूर्वाग्रहों को समझ सके, इसमें आपकी सहायता करने के लिए, हमें उसके साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रखना पड़ता है। हमें अनेक प्रकार की परिचर्चाएँ करनी पड़ती हैं और उसे अवसर देना होता है कि वह बुद्धिमत्तापूर्ण बातचीत को सुने; उसमें असन्तोष तथा अन्वेषण की भावना का हमें विकास करना पड़ता है— ये भावनायें जो उसमें पहले से ही हैं— और इस प्रकार उसकी सहायता करनी होतो है कि वह अपने से खोजे कि सत्य क्या है, असत्य क्या है?

सतत अन्वेषण और वास्तविक असन्तोष, ये ही वे चीजें हैं जो सर्जनशील बुद्धि को उत्पन्न करती हैं; परन्तु अन्वेषण तथा असन्तोष को जागरूक बनाये रखना अत्यधिक कठिन होता है और अधिकांश व्यक्ति यही नहीं चाहते कि उनके बच्चे उस प्रकार की प्रज्ञा को प्राप्त करें, क्योंकि ऐसे व्यक्ति के साथ रहना जो निरन्तर स्वीकृत मूल्यों के प्रति प्रश्न करता रहता है, बड़ा ही असुविधाजनक होता है।

जब हम छोटे होते हैं तो हम सभी में असन्तोष होता है, परन्तु दुर्भाग्य से हमारा असन्तोष शीघ्र ही मुरझा जाता है, उसे सत्ता की हमारी उपासना से और अनुकरण की प्रवृत्तियों द्वारा दबा दिया जाता है। जैसे-जैसे हम प्रौढ़ होते जाते हैं, हम स्थायी रूप से समाज में स्थान प्राप्त करने लगते हैं, हम सन्तुष्ट तथा अनुभवी होने लगते हैं; हम प्रशासक, पुरोहित, बैंक के क्लर्क, कारखाने के मैनेजर, तकनीकी व्यक्ति बनने लगते हैं और धीरे-धीरे पतन आरम्भ हो जाता है। चूँकि हम अपने स्थान को सुरक्षित रखना चाहते हैं, इसलिए हम उस समाज का समर्थन करते हैं जो विनाशकारी है, जिसने हमें उस स्थान पर पहुँचाया है और इस प्रकार कुछ मात्रा में सुरक्षा प्रदान की है।

शिक्षा के ऊपर सरकारी नियन्त्रण एक विपत्ति है। विश्व में शान्ति और व्यवस्था की तब तक कोई आशा नहीं है जब तक शिक्षा राज्य अथवा संगठित धर्म की अनुयायी है। फिर भी अधिकाधिक सरकारें बच्चों की तथा उनके भविष्य की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले रही हैं; और यदि कहीं सरकार नियन्त्रण नहीं चाहती तो वहाँ धार्मिक संगठन हैं जो शिक्षा पर नियन्त्रण चाहते हैं।

बालक के मन को संस्कारबद्ध करने का यह प्रयत्न कि वह किसी खास धार्मिक अथवा राजनीतिक विचार-प्रणाली के अनुकूल हो सके, यह मनुष्य-मनुष्य के बीच बैर-भाव उत्पन्न करता है। एक प्रतियोगी समाज में हमें भाईचारा नहीं मिल सकता और किसी प्रकार का सुधार, किसी प्रकार का अधिनायकवाद, किसी प्रकार की शिक्षण-पद्धति उसे उत्पन्न नहीं कर सकती।

जब तक आप न्यूजीलैण्डवासी बने हैं और मैं एक हिन्दू हूँ, मानव एकता के विषय में बात करना मूर्खता है। हम कैसे मनुष्य के रूप में एक साथ मिल सकते हैं यदि आप अपने देश में और हम अपने देश में अपने-अपने धार्मिक पूर्वाग्रहों तथा आर्थिक प्रणालियों को सुरक्षित रखते हैं? जब तक राष्ट्रभक्ति मनुष्य को मनुष्य से पृथक कर रही है और लाखों व्यक्ति एक ओर आर्थिक कठिनाइयों से पीड़ित हैं जब कि दूसरे समृद्ध हैं, तो भ्रातृत्व कैसे सम्भव है? जब हमारे विश्वास हमें विभाजित किये हुए हैं, जब एक समूह का दूसरे समूह पर आधिपत्य है, जब धनी शक्तिशाली हैं तथा निर्धन उसी शक्ति की खोज में लगे हैं, जब भूमि का विषमतापूर्वक वितरण हुआ है और कुछ लोगों के पेट भली-भाँति भरे हैं परन्तु बहुसंख्यक भूखों मर रहे हैं, तो मानव एकता कैसे सम्भव हो सकती है?

हमारी एक बड़ी कठिनाई यह है कि इन मामलों में हम वास्तव में ईमानदार नहीं है और इसका कारण यही है कि हम अधिक परेशान नहीं होना चाहते। हम यही चाहते हैं कि वस्तुएँ वहीं तक बदलें जहाँ तक वे हमारे लिए उपयोगी हों और इसीलिए हमें स्वयं अपने खोखलेपन की तथा क्रूरता की कोई गहरी चिन्ता नहीं है।

क्या हिंसा के द्वारा कभी हम शान्ति उपलब्ध कर सकते हैं? क्या शान्ति धीरे-धीरे, कालक्रम की धीमी प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त हो सकती है? निःसन्देह प्रेम प्रशिक्षण अथवा समय की वस्तु नहीं है। पिछले दो युद्ध, मैं समझता हूँ, लोकतन्त्र के लिए लड़े गये; और आज हम एक अधिक व्यापक और अधिक विनाशकारी युद्ध की तैयारी कर रहे हैं और लोग कम स्वतन्त्र हैं। परन्तु यदि ऐसे स्पष्ट अवरोधों जैसे— सत्ता, विश्वास, राष्ट्रवाद और समस्त पुरोहितवादी व्यवस्था के अवरोध को उठाकर एक ओर रख दें तो क्या होगा? हम लोग बिना किसी सत्ताधिकारी के तब मानव-मात्र होंगे, जिनका एक-दूसरे से साक्षात सम्बन्ध होगा, और तभी सम्भवतः प्रेम और करुणा होगी।

जैसा कि सभी दूसरे क्षेत्रों में होता है, शिक्षा के क्षेत्र में भी यह आवश्यक है कि ऐसे लोग इसमें हों जिनमें सहानुभूति तथा प्रेम हो, जिनके हृदय खोखले शब्दों से, मन की वस्तुओं से, भरे हुए न हों।

यदि जीवन सुख से, विवेक से, सावधानी तथा प्रेम से जीने के लिए बना है तो यह बहुत आवश्यक है कि हम अपने को समझें; और यदि हम एक वास्तविक प्रबुद्ध समाज का निर्माण करना चाहते हैं तो हमारे पास ऐसे शिक्षक होने चाहिए जिनको समन्वय की प्रक्रिया का अवबोध हो और जो उस अवबोध को बालक तक पहुँचाने में सक्षम हों।

ऐसे शिक्षक समाज की वर्तमान संरचना के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु हम वास्तव में एक प्रबुद्ध समाज का निर्माण करना ही नहीं चाहते, और कोई भी अध्यापक जो शान्ति के समस्त निहितार्थों को समझकर राष्ट्रवाद के सही महत्त्व को तथा युद्ध की मूर्खता की ओर संकेत करता है, शीघ्र ही अपने स्थान को खो देगा। इसी से अधिकांश अध्यापक समझौता कर लेते हैं, और इस प्रकार, शोषण और हिंसा की वर्तमान प्रणाली को सुरक्षित करने में सहायता करते हैं।

सत्य की खोज के लिए निस्सन्देह हमारे अन्दर के तथा पड़ोसियों के साथ होने वाले कलह से मुक्ति का होना आवश्यक है। जब हमारे अपने अन्दर कलह नहीं होता है तो हमारे बाहर भी कलह में नहीं होता। यह आन्तरिक कलह ही है जो बाहर प्रक्षिप्त होकर विश्व-संघर्ष बन जाता है।

युद्ध हमारे प्रतिदिन के जीवन का एक बड़ा व्यापक और रक्तमय प्रक्षेपण है। हमारे दिन-प्रति-दिन के जीवन में से ही युद्ध प्रकट होता है; और यदि अपने इस जीवन में हम परिवर्तन नहीं करते तो राष्ट्रीय तथा जातीय संघर्ष बने रहेंगे, विचार-प्रणालियों के विषय में बचकाने झगड़े जारी रहेंगे, सैनिकों की संख्या बढ़ती रहेगी, ध्वज-अभिवादन तथा वे सारी दूसरी क्रूरताएँ जो संगठित हत्या का कारण बनती हैं, बनी रहेंगी।

सारे विश्व में शिक्षा असफल हो गयी है। उसने निरन्तर बढ़ता हुआ विनाश, दुख और कष्ट उत्पन्न किया है। सरकारें युवकों को ऐसे कुशल सैनिक और तकनीक ज्ञाता बना रही हैं जिनकी उन्हें आवश्यकता है। नियन्त्रित व्यवस्था तथा पूर्वाग्रहों का पोषण किया जा रहा है तथा उन्हें कार्यान्वित किया जा रहा है। इन तमाम तथ्यों को ध्यान में रखकर हमें इनका अन्वेषण करना है कि अस्तित्व का क्या अर्थ है तथा हमारे जीवन का क्या महत्त्व एवं प्रयोजन है? हमें इसकी खोज करनी है कि एक नवीन परिवेश के निर्माण के औदार्यपूर्ण तरीके क्या हो सकते हैं; क्योंकि परिवेश ही है जो बालक को एक पशु, एक भावनाहीन विशेषज्ञ बना सकता है और वही है जो संवेदनशील तथा बुद्धिमत्तापूर्ण मनुष्य बनने में उसकी सहायता कर सकता है। हमें एक विश्व-सरकार का निर्माण करना है जो मौलिक रूप से भिन्न प्रकार की होगी और जो न तो राष्ट्रवाद पर आधारित होगी, न विचार-प्रणालियों पर और न सैन्य शक्ति पर।

इन सबका निहितार्थ यह है कि हम एक-दूसरे के प्रति अपने दायित्व को परस्पर सम्बन्धों के बीच समझें; परन्तु अपनी जिम्मेदारी को समझने के लिए हमारे हृदय में प्रेम होना चाहिए न कि केवल विद्वत्ता और ज्ञान। हमारा प्रेम जितना अधिक सघन होगा उतना ही गहरा समाज पर उसका प्रभाव पड़ेगा। परन्तु हम सब मस्तिष्क हैं, हृदय नहीं हैं; हम बुद्धि का पोषण करते हैं तथा विनम्रता से घृणा करते हैं। यदि वास्तव में हम अपने बच्चों से प्रेम करते तो हमने उनकी रक्षा करने का प्रयत्न किया होता, हमने उनका युद्धों में बलिदान नहीं किया होता।

मेरे विचार से हम वास्तव में शस्त्र चाहते हैं; हम सैनिक प्रदर्शन चाहते हैं; सैनिक पोशाक, कर्मकाण्ड, शराब, शोर और हिंसा चाहते हैं। हमारा प्रतिदिन का जीवन संक्षेप में इसी क्रूर छिछलेपन का प्रतिबिम्बन है, और हम द्वेष तथा विचारहीनता के कारण एक-दूसरे का नाश कर रहे हैं।

हम धनी होना चाहते हैं, और जितने अधिक हम धनी होते हैं उतने ही अधिक निष्ठुर होते जाते हैं, यद्यपि दान और शिक्षा के लिए हम बहुत बड़ी धन-राशि देते हैं। अपने शिकार को लूटकर हम लूट का कुछ भाग उसे लौटा देते हैं और इसे हम दानशीलता कहते हैं। मैं नहीं समझता कि जिस विनाश की तैयारी हम कर रहे हैं उसका हम कभी अनुभव करते हैं। हममें से अधिकांश व्यक्ति अपने प्रत्येक दिन को उतनी तेज गति और विचारहीनता से जीते हैं जितना सम्भव हो सके और अपने जीवन का मार्ग-निर्देशन सरकारों के, चतुर राजनीतिज्ञों के हाथ में छोड़ देते हैं।

सभी सम्प्रभु सरकारों के लिए युद्ध की तैयारी आवश्यक होती है। आपकी भी सरकार इसका अपवाद नहीं है। अपने नागरिकों को युद्ध के लिए कार्य-क्षम बनाने में, जिससे कि वे अपने कर्तव्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से निभा सकें, यह स्पष्टतया आवश्यक है कि सरकार उन पर नियन्त्रण तथा अधिकार रखे। उनको मशीन की तरह काम करने के लिए, निष्ठुर कार्य-क्षमता के लिए, प्रशिक्षित किया जाना आवश्यक हो जाता है। यदि जीवन का प्रयोजन और लक्ष्य नष्ट करना अथवा नष्ट होना ही है तो शिक्षा को अवश्य ही निष्ठुरता से प्रोत्साहित करना चाहिए; और मैं ठीक से नहीं कह सकता कि क्या यही नहीं है जो हम अन्दर से चाहते हैं, क्योंकि निष्ठुरता और सफलता की उपासना साथ-साथ ही चलती है?

सम्प्रभु राज्य यह नहीं चाहते कि उनके नागरिक स्वतन्त्र हों, अपने स्वयं के लिए वे चिन्तन करें। वे प्रोपेगेन्डा के द्वारा, तोड़ी-मरोड़ी हुई ऐतिहासिक व्याख्याओं के द्वारा, उन पर नियन्त्रण रखते हैं। यही कारण है कि शिक्षा अधिकाधिक 'हम क्या सोचें' इसको सिखाने का साधन बनती जा रही है न कि 'हम कैसे सोचें'। यदि प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था के ऊपर हम स्वतन्त्र रूप से विचार करें तो हम उसके लिए खतरनाक हो सकते हैं; स्वतन्त्र संस्थाएँ शान्तिवादी लोगों को अथवा ऐसे लोगों को उत्पन्न कर सकती हैं जो कि वर्तमान शासन के प्रतिकूल सोचें।

स्पष्ट है कि सम्प्रभु सरकारों के लिए शिक्षा एक खतरा है— और इसीलिए उसे सूक्ष्म या क्रूर साधनों के द्वारा रोका जाता है। कुछ थोड़े लोगों के हाथ में शिक्षा और भोजन का हो जाना मनुष्य के ऊपर नियन्त्रण करने का साधन बन गया है; और जब तक व्यापार के माल और बन्दूक की गोलियों का उत्पादन करने के लिए हम एक कुशल मशीन के रूप में कार्य करते रहेंगे, तब तक सरकारें चाहे वे वाम-पंथी हों या दक्षिण-पंथी, इन सबकी चिन्ता नहीं करेंगी।

सारे संसार में ऐसा ही हो रहा है और इसका असर यह है कि हम, जो कि नागरिक तथा शिक्षक हैं और जो वर्तमान सरकारों के अस्तित्व के लिए जिम्मेदार हैं, मूलभूत रूप से इसकी कोई चिन्ता नहीं करते कि मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता है अथवा दासता, शान्ति है अथवा युद्ध, कल्याण है अथवा कष्ट। हम यहाँ-वहाँ थोड़ा बहुत सुधार चाहते हैं परन्तु हममें से अधिकांश वर्तमान समाज के विघटन से और पूर्णतया एक नई संरचना के निर्माण से भयभीत हैं, क्योंकि इसके लिए स्वयं हमारे अन्दर एक मौलिक परिवर्तन आवश्यक होगा।

दूसरी ओर वे लोग हैं जो हिंसक क्रान्ति करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वर्तमान समाज और उसके तमाम द्वन्द्वों, भ्रान्तियों एवं कष्टों को उत्पन्न करने में, सहायता करने के बाद वे अब एक आदर्श समाज को संगठित करने की बात करते हैं जबकि हमने ही वर्तमान समाज को अस्तित्व प्रदान किया है। यह विश्वास करना कि शान्ति, हिंसा के द्वारा उपलब्ध की जा सकती है, वर्तमान का किसी भविष्य के आदर्श के लिए बलिदान करना है। हमें समझना चाहिए कि अनुचित साधन के द्वारा उचित साध्य की यह खोज भी वर्तमान विनाश के कारणों में से एक है।

ऐन्द्रिक मूल्यों का विस्तार एवं प्रभाव अनिवार्यतः राष्ट्रवाद के, आर्थिक सीमाओं के, सम्प्रभु सरकारों एवं राष्ट्रभक्ति की भावना के विष को उत्पन्न करता है, और ये सभी मनुष्य के सहयोग का बहिष्कार करते हैं तथा मानव-सम्बन्ध को, जो कि समाज है, भ्रष्ट बनाते हैं। समाज आपके और दूसरों के बीच का सम्बन्ध है; और इस सम्बन्ध को बिना गहराई से समझे, किसी एक ही स्तर पर नहीं वरन एक समग्र प्रक्रिया के रूप में समन्वित ढंग से बिना समझे, हम बाध्य हैं कि हम जिस समाज-संरचना का निर्माण करेंगे वह पुनः उसी प्रकार का होगा तथा हम जो ऊपरी परिवर्तन उसमें करेंगे उससे कोई अन्तर न पड़ेगा।

हमारे वर्तमान मानवीय सम्बन्धों ने विश्व में अकथनीय कष्ट उत्पन्न किया है और यदि उसमें हम एक मौलिक परिवर्तन का प्रयत्न करते हैं तो आत्मज्ञान

के द्वारा स्वयं अपने में परिवर्तन करने का कार्य तात्कालिक एवं सर्वाधिक महत्त्व का हो जाता है। अतः हम पुनः केन्द्रीय विषय पर लौट आते हैं जोकि हम स्वयं हैं; परन्तु हम इसी बिन्दु की अनदेखी करते हैं और अपनी जिम्मेदारी को सरकारों, धर्मों तथा विचार-प्रणालियों की ओर देखते हैं जो हमारे अपने प्रक्षेपण-मात्र हैं; और जब तक हम मौलिक रूप से नहीं बदलते, तब तक न तो उचित शिक्षा सम्भव होगी न शान्तिपूर्ण विश्व।

बाह्य सुरक्षा सभी के लिए तभी सम्भव हो सकती है जब प्रेम एवं प्रज्ञा हो; और चूँकि हमने एक द्वन्द्व और कष्ट वाले संसार का निर्माण किया है जिसमें बाह्य सुरक्षा सभी के लिए तेजी से असम्भव होती जा रही है तो क्या यह अतीत और वर्तमान शिक्षा की पूर्ण व्यर्थता का सूचक नहीं है? अभिभावकों और अध्यापकों के रूप में यह सीधे हमारी जिम्मेदारी है कि हम परम्परागत विचारों को छोड़ें तथा केवल विशेषज्ञों और उनके निष्कर्षों पर ही निर्भर न रहें। तकनीक की कार्यक्षमता ने हमें धनोपार्जन की योग्यता प्रदान की है और इसी कारण से हममें से अधिकांश व्यक्ति वर्तमान समाज-संरचना से सन्तुष्ट रहते हैं। परन्तु एक सच्चे शिक्षक का सम्बन्ध केवल सम्यक् शिक्षा, और सम्यक् जीविकोपार्जन से होता है।

इन मामलों में जितने अधिक गैर-जिम्मेदार हम होते हैं उतना ही अधिक राज्य सभी जिम्मेदारी को अपने ऊपर ले लेता है। हमारे सामने राजनीतिक अथवा आर्थिक संकट नहीं है, संकट हमारे सामने मानवता के पतन का है और उसे कोई राजनीतिक दल अथवा आर्थिक व्यवस्था नहीं दूर कर सकती।

एक दूसरा एवं कहीं अधिक बड़ा विनाश भी हमारे बहुत ही अधिक निकट आ गया है, और हममें से अधिकांश उसके विषय में कुछ भी नहीं कर रहे हैं। हम प्रत्येक दिन को उसी प्रकार व्यतीत करते हैं जैसा पहले करते थे, हम मिथ्या मूल्यों को उतार कर नहीं फेंकना चाहते और नये सिरे से आरम्भ करने के लिए तैयार नहीं हैं। हम छोटे-मोटे पैबन्द वाले सुधार करना चाहते हैं जिससे और अधिक सुधार की समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। परन्तु इमारत ही लड़खड़ा रही है, दीवारें गिरने वाली हैं और आग उसे जला रही है। यह आवश्यक है कि हम उस इमारत को छोड़ दें और नयी भूमि पर भिन्न प्रकार की नींव रखकर भिन्न प्रकार के मूल्यों पर, नये सिरे से निर्माण करें।

तकनीक के ज्ञान की हम उपेक्षा तो नहीं कर सकते, परन्तु आभ्यन्तर में अपनी कुरूपता के प्रति, अपनी निष्ठुरता के प्रति, अपने भ्रमों और अपनी बेईमानी के प्रति, प्रेम के अपने अत्यन्ताभाव के प्रति, हम जागरूक अवश्य हो सकते हैं। राष्ट्रवाद की भावना से, द्वेष से और सत्ता की लोलुपता से यदि हम अपने को विवेकपूर्ण ढंग से मुक्त करें तो एक नवीन समाज-व्यवस्था की स्थापना हो सकती है।

छोटे मोटे पैबन्दी सुधारों के द्वारा शान्ति नहीं उपलब्ध हो सकती, और न वह उपलब्ध हो सकती है— पुराने विचारों तथा संघ-विश्वासों की किसी नवीन व्यवस्था से। शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब हम समझें कि सतहीपन से परे क्या है और इस प्रकार विनाश के इस तूफान को रोकें जिसको हमारी अपनी आक्रामक वृत्ति ने तथा आशंकाओं ने उत्पन्न किया है। तभी हमारे बच्चों के लिए कोई आशा होगी और विश्व के लिए मुक्ति होगी।



विद्यालय

सही शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता और मुक्ति, से है। यही स्वतन्त्रता है जो समस्त के साथ, अनेक के साथ, सहयोग को सम्भव बनाती है; परन्तु यह स्वतन्त्रता आत्म-विस्तार तथा अपनी सफलता से लिए किये गये प्रयत्नों से नहीं उपलब्ध होती। स्वतन्त्रता आत्मज्ञान के साथ आती है, वह तब आती है जब मन उन बाधाओं से ऊपर एवं परे उठ जाता है जिनको उसने अपनी सुरक्षा की वासना के द्वारा स्वयं अपने लिए निर्मित किया है।

शिक्षा का कार्य इन सब मनोवैज्ञानिक बाधाओं के अन्वेषण में प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करना है, न कि व्यवहार के नवीन प्रारूपों का, विचार के नवीन स्वरूपों का, उसके ऊपर आरोपण करना। ऐसे आरोपण कभी भी प्रज्ञा को, सृजनशील अवबोध को, जागृत नहीं करेंगे, बल्कि वे केवल व्यक्ति को और अधिक संस्कारबद्ध करेंगे। निस्सन्देह विश्व में सर्वत्र वही हो रहा है, और यही कारण है कि हमारी समस्याएँ बनी हुई हैं तथा बढ़ती जा रही हैं।

सही शिक्षा तभी संभव होती है जब हम मानव जीवन के गहरे महत्त्व को समझना आरम्भ करते हैं; परन्तु इसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा मन फल की उस वासना से मुक्त हो जाये जो भय तथा अनुकरण उत्पन्न करती है। यदि हम अपने बच्चों को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते हैं, यदि हमारे लिए वे हमारे क्षुद्र स्व का ही सातत्य हैं तथा हमारी महत्त्वाकांक्षाओं के तुष्टीकारक हैं तो हम एक ऐसे परिवेश, एक ऐसी समाज-संरचना का निर्माण करेंगे जिसमें प्रेम तो नहीं है, बस केवल स्वकेन्द्रित लाभों की खोज है।

सांसारिक अर्थ में वे विद्यालय सफल होते हैं जो शिक्षा-केन्द्र के रूप में अपने सफल होने की ही सम्भावना अधिक खोजते हैं। एक बड़ी एवं समृद्ध संस्था, जिसमें सैकड़ों बच्चों को एक साथ बड़े दिखावे के साथ और बड़ी सफलता के साथ शिक्षा दी जाती है, वह बैंक क्लर्क, अच्छे विक्रेता, उद्योगपति अथवा राजकीय विभागों के अध्यक्ष जैसे सतही व्यक्ति ही उत्पन्न करती है जो तकनीक के कार्यकुशल होते हैं। परन्तु आशा केवल समन्वित व्यक्ति से ही की जा सकती है और उन्हें उत्पन्न करने में केवल छोटे विद्यालय ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यही कारण है कि बड़ी शिक्षा-संस्थाओं में आधुनिकतम एवं

श्रेष्ठतम शिक्षा-पद्धतियों का प्रयोग करने के स्थान पर सीमित संख्या में बालकों एवं बालिकाओं वाले ऐसे विद्यालयों का होना अधिक महत्त्वपूर्ण है जिनमें उचित प्रकार के शिक्षक अध्यापन कार्य करते हों।

दुर्भाग्य से हमारी भ्रान्तिपूर्ण कठिनाई हमारा यह विचार ही है कि हमें एक बड़े स्तर पर कार्य करना चाहिए। हममें से अधिकांश व्यक्ति बड़े विद्यालय चाहते हैं जिनकी प्रभावशाली इमारतें हों, क्योंकि हम उसे परिवर्तित अथवा प्रभावित करना चाहते हैं जिसे हम जनसमूह कहते हैं, यद्यपि यह स्पष्ट है कि ऐसी संस्थाएँ सही प्रकार के शिक्षा-केन्द्र नहीं होतीं।

परन्तु यह जनसमूह कौन है? आप और मैं। जनता को सही शिक्षा दी जानी चाहिए यह एक ऐसा विचार है जिसमें हम खो जाते हैं। जनता की यह चिन्ता भी एक प्रकार का पलायन है जिसे हम तत्काल कर्म करने से बचने के लिए करते हैं। यदि जो तत्काल आवश्यक है हम उससे आरम्भ करें, यदि अपने बच्चों, अपने मित्रों तथा पड़ोसियों के साथ अपने सम्बन्ध में हम स्वयं अपने प्रति जागरूक हों, तो उचित शिक्षा सार्वभौमिक हो ही जायेगी और जिस संसार में हम रहते हैं, अर्थात अपने परिवार एवं मित्रों का संसार, इसमें किये गये हमारे अपने कार्य का प्रभाव एवं परिणाम व्यापक होगा।

अपने स्वयं के तमाम सम्बन्धों में अपने प्रति पूर्णतया जागरूक होने से हम अपने अन्दर की उन भ्रान्तियों और सीमाओं की जानकारी प्राप्त करना आरम्भ करेंगे जिनका अभी हमें कोई ज्ञान नहीं है। उनके प्रति जागरूक होकर हम उन्हें समझेंगे तथा इस प्रकार उनको समाप्त करेंगे। यह जागरूकता तथा इससे उत्पन्न आत्मज्ञान के अभाव में शिक्षा अथवा दूसरे क्षेत्रों में लाया गया किसी भी प्रकार का सुधार का परिणाम और अधिक संघर्ष एवं अधिक कष्ट पैदा करेगा।

बड़ी-बड़ी संस्थाओं का हम निर्माण करते हैं तथा ऐसे शिक्षकों को नियुक्त करते हैं जो प्रत्येक छात्र के साथ अपने सम्बन्ध में न तो सचेत होते हैं न तो सतर्क; वे केवल एक व्यवस्था-प्रणाली पर आश्रित रहते हैं। ऐसा करके हम केवल सूचनाओं के संकलन को, कार्य-क्षमता के विकास को, और यन्त्रवत एवं किसी प्रारूप के अनुरूप सोचने की आदत को ही प्रोत्साहित करते हैं; परन्तु निश्चय ही यह सब समन्वित व्यक्ति के रूप में विकसित होने में छात्र की सहायता नहीं करता। सचेत और विचारहीन शिक्षकों द्वारा व्यवस्था प्रणालियों का कोई सीमित उपयोग हो भी सकता है, परन्तु यह व्यवस्था-प्रणाली प्रज्ञा को विकसित नहीं करती। फिर भी

यह आश्चर्य की बात है कि ''व्यवस्था-प्रणाली'', ''संस्था'' , जैसे शब्द हमारे लिए बड़े महत्त्व के हो गये हैं। यथार्थ का स्थान प्रतीकों ने ले लिया है और हम इससे सन्तुष्ट हैं कि ऐसा ही होना चाहिए; क्योंकि जो यथार्थ होता है वह परेशानी पैदा करता है, जबकि उसकी परछाइयों से आराम मिलता है।

जनता के सामूहिक प्रशिक्षण के द्वारा मौलिक महत्त्व की कोई वस्तु नहीं उपलब्ध हो सकती, उसकी उपलब्धि तो तभी सम्भव है जब प्रत्येक बालक की क्षमताओं एवं प्रवृत्तियों का तथा उसकी कठिनाइयों का हम सावधानी से निरीक्षण करें, और उन्हें समझें; और जो लोग इसके प्रति जागरूक हैं और जो ईमानदारी से चाहते हैं कि अपने को समझें तथा बालकों की सहायता करें, उन्हें एक साथ मिलकर एक ऐसे विद्यालय को आरम्भ करना चाहिए जो समन्वित प्रज्ञा से पूर्ण विकास के लिए बालक के जीवन में सहायक हो। ऐसा विद्यालय बालक के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान लेगा। ऐसे विद्यालय को आरम्भ करने के लिए उन्हें आवश्यक साधन को जुटाने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। अपने घर पर ही कोई व्यक्ति एक सच्चा अध्यापक बन सकता है और यदि वह सच्चा है तो उसे उचित अवसरों की कमी होगी।

इसीलिए जो लोग अपने बच्चों से तथा अपने चारों ओर के बच्चों से प्रेम करते हैं। और जो ईमानदार हैं वे एक उचित विद्यालय को कहीं पास में ही अथवा अपने ही घर से आरम्भ कर देंगे। फिर उनके लिए आवश्यक धन आयेगा इसका अधिक महत्त्व नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सही प्रकार के एक ही हाथ से विद्यालय को बनाये रखना आर्थिक दृष्टि से बहुत कठिन कार्य है, वह केवल आत्मत्याग से ही उन्नति कर सकता है, न कि बैंक के किसी बड़े खाते से। यदि उसे और अवबोध नहीं है तो धन अनिवार्यतः भ्रष्ट बनाता है। परन्तु यदि विद्यालय वास्तव में उपयोगी है तो उसे आवश्यक सहायता मिलेगी। वहाँ बालक के प्रति प्रेम है, वहाँ सभी वस्तुएँ सम्भव हैं।

जब तक संस्था को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जायेगा, तब तक बालक को महत्त्व नहीं मिल सकता। सही शिक्षा का लगाव व्यक्ति से होता है न कि छात्रों की संख्या से; और ऐसे शिक्षक को ज्ञात होगा कि वह एक महत्त्वपूर्ण एवं जीवन्त विद्यालय चला सकता है एवं कुछ अभिभावक उसकी सहायता करने को भी तैयार हो सकते हैं। परन्तु अध्यापक के अन्दर उत्साहपूर्ण रुचि होनी चाहिए; यद्यपि उसका उत्साह शिथिल है तो उसकी संस्था भी दूसरी संस्थाओं की भाँति ही होगी।

यदि अभिभावक वास्तव में अपने बच्चों से प्रेम करते हैं, तो ऐसे छोटे विद्यालयों की स्थापना के लिए, जिनमें सही प्रकार के शिक्षक नियुक्त हों, कानून तथा दूसरे साधनों की सहायता लेंगे। यह सही है कि छोटे विद्यालय खर्चीले होते हैं और सही प्रकार के शिक्षक प्राप्त करना कठिन होता है, परन्तु इससे वे पीछे नहीं हटेंगे।

फिर भी उन्हें यह समझना चाहिए कि निहित स्वार्थों द्वारा, सरकारों और संगठित धर्मों द्वारा, अनिवार्यतः उनका विरोध होगा; क्योंकि ऐसे विद्यालय निश्चय ही बड़े क्रान्तिकारी होंगे। सही क्रांति हिंसक क्रांति नहीं होती; वह व्यक्तियों में समन्वय तथा प्रज्ञा के पोषण से आती है और ऐसे ही व्यक्ति अपने जीवन के द्वारा समाज में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न करेंगे।

परन्तु यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार के विद्यालयों में सभी शिक्षक स्वेच्छा से आयें, न तो उनको बाध्य किया जाये और न ही उनका चुनाव हो, क्योंकि सांसारिकता से उनका स्वैच्छिक रूप में, स्वतंत्र रूप से स्वतंत्र होना ही वह सही आधार है जिस पर एक वास्तविक शिक्षा केन्द्रित हो सकती है। यदि अध्यापक सम्यक् जीवन-मूल्यों को समझने में एक-दूसरे की और छात्रों की सहायता करते हैं तो उनके दैनिक सम्बन्धों में एक सतर्क और सतत जागरूकता आ ही जाती है।

छोटे से विद्यालय के एकांत में यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति यह भूल जाये कि एक बाहरी संसार भी है जिसमें निरन्तर बढ़ने वाला द्वन्द्व, विनाश और कष्ट है। यह संसार हमसे पृथक नहीं है। यही नहीं, यह हमारा ही अंग है, क्योंकि जो कुछ वह है वह हमने ही बनाया है; और इसीलिए यदि समाज की संरचना में कोई मौलिक परिवर्तन होता है तो सही शिक्षा उसके लिए पहला कदम है।

विचार-प्रणालियाँ, नेता लोग तथा अर्थिक क्रांतियाँ नहीं वरन सम्यक् शिक्षा ही हमारी समस्याओं और कष्टों का स्थायी समाधान दे सकती है। इस सत्य को बौद्धिक तथा भावनात्मक दबाव के द्वारा नहीं देखा जा सकता और न ही चतुर तर्कों के द्वारा उसे समझा जा सकता है। यदि एक उचित विद्यालय में अध्यापकों का एक केन्द्रीय समूह है जो निष्ठावान है तथा जीवन्त है तो वह ऐसे ही दूसरे व्यक्तियों को अपने चारों ओर एकत्रित कर लेगा और दूसरे जो उसमें रुचि नहीं रखते, शीघ्र ही वहाँ अपने को अकेला अनुभव करने लगेंगे। यदि यह केन्द्रीय समूह

सप्रयोजन एवं सतर्क है तो किनारे बैठे हुए उदासीन व्यक्ति या तो समाप्त हो जायेंगे या पृथक हो जायेंगे; परन्तु यदि केन्द्र ही उदासीन है तो सारा समूह अनिश्चित और दुर्बल हो जायेगा।

यह केन्द्र केवल प्रधानाध्यापकों से नहीं बनता। जो उत्साह और रुचि केवल एक ही व्यक्ति पर आश्रित है वह निश्चय ही शिथिल होकर समाप्त हो जायेगी। ऐसी रुचि छिछली, अस्थिर और मूल्यहीन होती है, क्योंकि उसे दूसरों की बातों और कल्पनाओं द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है तथा उनका दास बनाया जा सकता है। यदि प्राधानाध्यापक अधिकार जमानेवाला है तो स्पष्ट है कि स्वतंत्रता और सहयोग की भावना का वहाँ अस्तित्व नहीं हो सकता है, परन्तु भय और अधीनता वहाँ चुपके से आ ही जाती है और तब प्रायः यही होता कि स्टाफ के शेष सदस्य अस्तित्वहीन हो जाते हैं।

ऐसा समूह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अवबोध के अनुकूल नहीं होता। स्टाफ को प्रधानाध्यापक के प्रभुत्व के अधीन नहीं होना चाहिए और प्रधानाध्यापक को सही दायित्वों को अपने ही ऊपर नहीं ले लेना चाहिए; दूसरी ओर, होना यह चाहिए कि प्रत्येक अध्यापक सम्पूर्ण के लिए अपने को जिम्मेदार समझे। यदि केवल थोड़े ही व्यक्ति हैं जिनमें वास्तविक अभिरुचि है तो शेष लोगों की उदासीनता अथवा उनका विरोध सामूहिक प्रयत्न में बाधक बनेगा उसे अवरुद्ध कर देगा।

यह सन्देह किया जा सकता है कि एक केन्द्रीय सत्ता के अभाव में क्या कोई विद्यालय चलाया जा सकता है; परन्तु इसके विषय में वास्तव में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका कभी प्रयत्न नहीं किया गया। निस्संदेह सच्चे शिक्षकों के समूह में सत्ताधिकार की यह समस्या कभी नहीं उठेगी। जब सभी मुक्त एवं विवेकपूर्ण होने के लिए प्रयत्नशील हैं तो प्रत्येक स्तर पर एक-दूसरे के साथ सहयोग सम्भव हो जाता है। उन लोगों के लिए जिन्होंने सभी सम्यक् शिक्षा के कार्य के लिए गम्भीरता से अथवा स्थायी रूप से अपने को समर्पित नहीं किया है, वहाँ केन्द्रीय सत्ता का अभाव एक अव्यावहारिक सिद्धान्त प्रतीत हो सकता है, परन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसी सम्यक् शिक्षा के प्रति पूर्णतया समर्पित है तो उसे प्रेरित करने की, निर्देशित अथवा नियंत्रित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। विवेकपूर्ण अध्यापक अपनी क्षमताओं के प्रयोग में विनम्र होते हैं; व्यक्तिगत रूप से वे स्वतंत्र होने का प्रयत्न करते हैं परन्तु इसके

साथ-साथ वे नियमों का पालन करते हैं और सम्पूर्ण विद्यालय के लाभ के लिए जो आवश्यक होता है, करते हैं। हमारी अभिरुचि ही क्षमता का समारम्भ है, और प्रयोग द्वारा दोनों ही चीजें दृढ़ होती हैं।

यदि अध्यापक अपने कार्य और अपनी रुचि के विषय में निश्चित नहीं हैं तो उनमें द्वेष अथवा संघर्ष का होना स्वाभाविक है और वे, जो कुछ शक्ति उनमें है, उसे छोटी-मोटी बातों और व्यर्थ के झगड़ों में नष्ट करेंगे; दूसरी ओर, यदि सही शिक्षा को प्राप्त करने के लिए उनमें उत्कट अभिरुचि है तो झुंझलाहट और ऊपरी असहमति शीघ्र ही समाप्त हो जायेगी । तब छोटी-मोटी बातें जो इतनी बड़ी दिखलाई देती हैं अपने सामान्य रूप में आ जायेंगी, संघर्ष और व्यक्तिगत वैमनस्य व्यर्थ के और विनाशकारी महसूस होने लगेंगे और सभी चर्चाएँ तथा परस्पर संवाद इसका पता लगाने में सहायक होंगे कि क्या सही है, न कि कौन सही है।

कठिनाइयों और गलत-फहमियों पर उन लोगों को हमेशा ही चर्चा करते रहना चाहिए जो सामूहिक प्रयोजन के किसी काम को मिलकर कर रहे हैं, क्योंकि इससे विचारों में होने वाली भ्रांतियों को दूर करने में सहायता मिलती है। जब अभिरुचि सप्रयोजन होती है तब अध्यापकों में स्पष्टवादिता और मैत्री भी आ जाती है और उनके बीच कभी वैमनस्य नहीं उत्पन्न हो सकता; परन्तु यदि उस अभिरुचि का अभाव है, तो चाहे ऊपर से वे परस्पर लाभ के लिए सहयोग करते हों, द्वन्द्व और बैर-भाव सदा बना ही रहेगा।

निस्संदेह दूसरे भी अनेक कारण हैं जो स्टाफ के सदस्यों में संघर्ष का कारण बन सकते हैं। ऐसा हो सकता है कि कोई अध्यापक कार्य-बोझिल हो, दूसरे की व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक समस्याएँ हो सकती हैं और ऐसे भी लोग हो सकते हैं जिनकी उस काम में कोई गहरी रुचि न हो जिसे वे कर रहे हैं। निश्चय ही, इन सभी समस्याओं को बैठक में स्पष्ट किया जा सकता है, क्योंकि पारस्परिक रुचि सहयोग उत्पन्न करती है। यह स्पष्ट है कि यदि कुछ ही लोग सब काम करें और शेष बैठे रहेंगे तो कोई महत्त्व की बात हो ही नहीं सकेगी।

काम के समान वितरण से सभी को आराम रहता है, और यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को कुछ मात्रा में विश्राम का अवसर मिलना चाहिए। कार्य से बोझिल अध्यापक स्वयं अपने लिए भी समस्या होता है तथा दूसरों के लिए भी। यदि किसी

व्यक्ति पर कार्य का अत्यधिक बोझ है, तो स्वाभाविक है कि वह सुस्त एवं कार्यविमुख हो जायेगा, विशेषरूप से उस अवस्था में जबकि वह ऐसा कोई काम कर रहा है जिसमें रुचि नहीं है। यदि शारीरिक अथवा मानसिक कोई ऐसा कार्य है जिसको निरन्तर करना पड़ रहा है तब थकान से छुटकारा पाना सम्भव नहीं; परन्तु विश्राम के घंटों का यह प्रश्न मित्रता के आधार पर इस प्रकार तय किया जा सकता है कि वह सबको स्वीकार हो।

विश्राम कैसा होना चाहिए इसमें व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं। उन लोगों के लिए जो अपने कार्य में बहुत अभिरुचि रखते हैं स्वयं वह कार्य भी विश्राम होता है; अभिरुचि का कार्य, जैसे अध्ययन, ही स्वयं विश्रान्ति का एक रूप है। दूसरे ऐसे भी लोग हैं जिन्हें विश्रान्ति तभी मिलती है जब वे एकान्त में चले जाते हैं।

यदि यह आवश्यक है कि शिक्षक के पास अपने लिए भी कुछ समय बचे तो उसके ऊपर केवल उतने ही छात्रों का दायित्व होना चाहिए जिनको वह आसानी से ले सकता है। छात्र एवं अध्यापक के बीच एक साक्षात एवं जीवन्त सम्बन्ध उस अवस्था में लगभग असम्भव हो जाता है जब अध्यापक के ऊपर एक बड़ी संख्या में छात्र दायित्व होता है और वह उनकी व्यवस्था नहीं कर सकता है।

यह भी एक कारण है जिसकी वजह से विद्यालय को छोटा रखना चाहिए। स्पष्टतया यह महत्त्व की बात है कि एक कक्षा में, एक सीमित संख्या में छात्रों को रखा जाय, जिससे कि शिक्षक प्रत्येक छात्र पर पूरा ध्यान दे सके। जब छात्र-समूह बड़ा होता है तो उसके लिए ऐसा सम्भव नहीं होता और उस अवस्था में अनुशासन बनाये रखने का सरल एवं सुविधाजनक तरीका दण्ड एवं पुरस्कार ही रह जाता है।

सही शिक्षा एक बड़े समूह में नहीं दी जा सकती। प्रत्येक बालक के अध्ययन के लिए धैर्य, सावधानी तथा प्रज्ञा की आवश्यकता होती है। बालक की प्रवृत्तियों का, उसकी अभिरुचियों का एवं उसके स्वभाव का निरीक्षण, उसकी कठिनाइयों को समझना, उसके वंशानुक्रम तथा पैतृक प्रभाव को ध्यान में रखना, न कि उसे किसी विशेष वर्ग-कोटि के ही अन्दर रखना इस सबके लिए स्फूर्ति से भरे एक ऐसे विनम्र मन की आवश्यकता होती है जो किसी व्यवस्था-प्रणाली

अथवा पूर्वाग्रह से बाधित नहीं है। उसके लिए कुशलता की, तीव्र अभिरुचि की और सबसे अधिक, प्रेम-भावना की आवश्यकता होती है; और ऐसे शिक्षकों को उत्पन्न करना जिनमें ये गुण हों, आज की प्रमुख समस्याओं में से एक है।

पूरे विद्यालय को प्रत्येक समय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा प्रज्ञा के वातावरण से पूर्ण रहना चाहिए। इसे केवल संयोग पर छोड़ देना उचित नहीं है; और न खाली समय में ''स्वतन्त्रता'' तथा ''प्रज्ञा'' जैसे शब्दों का लापरवाही से उल्लेख करने का ही कोई अर्थ होता है।

यह विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है कि छात्र एवं अध्यापक पूरे समूह के हित से सम्बन्धित विषयों पर विचार करने के लिए नियमित रूप से मिलें तथा चर्चा करें। एक छात्र-समिति को संगठित किया जाना चाहिए जिसमें अध्यापकों का प्रतिनिधित्व हो। इस समिति को अनुशासन, सफाई, भोजन आदि सभी समस्याओं पर पूरी तौर से विचार करना चाहिए। इसे ऐसे छात्रों के मार्गदर्शन में ही सहायता करनी चाहिए जो अपने में ही लिप्त हों, उदासीन अथवा जिद्दी हों।

अपने में से ही छात्रों को ऐसे व्यक्तियों का चुनाव करना चाहिए जो किए गये निर्णयों को लागू करने के लिए जिम्मेदार हों तथा जो सामान्य निरीक्षण में सहायता करें। आखिर स्कूल का स्वशासन ही बाद के जीवन में आत्मानुशासन की तैयारी है, यदि स्कूल के समय बालक अपनी दैनिक समस्याओं से सम्बन्धित विचार-विमर्श में दूसरों का ध्यान रखना, निष्पक्ष तथा विवेकपूर्ण होना सीखता है जो बड़े होने पर जीवन की अधिक व्यापक तथा अधिक जटिल परीक्षाओं का सामना और अधिक प्रभावशाली तथा धैर्यपूर्ण ढंग से करने में समर्थ होगा। यह आवश्यक है कि एक-दूसरे की कठिनाइयों और विशेषताओं को, मनोदशाओं और व्यक्तिगत स्वभावों को समझने में विद्यालय बालकों की सहायता करे, क्योंकि तभी जैसे-जैसे वे बड़े होंगे वे दूसरों के साथ अपने सम्बन्ध में अधिक विचारवान और धैर्यवान होंगे।

बालक के अध्ययन में भी स्वतन्त्रता तथा प्रज्ञा की यही भावना दिखायी पड़नी चाहिए। यदि उसे सृजनशील बनना है न कि केवल एक यन्त्र मात्र, तो बने-बनाये फार्मूलों और निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिए छात्र को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। यहाँ तक कि विज्ञान के अध्ययन में भी उसके साथ तर्क-वितर्क होना चाहिए जिससे वह समस्या को पूर्ण रूप से समझ सके और स्वयं अपने निर्णय का उपयोग कर सके।

प्रश्न उठता है कि तब मार्गदर्शन का क्या होगा? क्या किसी प्रकार के मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करता है कि ''मार्गदर्शन'' का क्या अर्थ है। यदि अपने हृदय से अध्यापकों ने सभी प्रकार के भय को, प्रभुत्व को, तथा सारी वासना को निकाल दिया है तो वे सृजनशील अवबोध तथा स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने में छात्र की सहायता कर सकते हैं; परन्तु यदि उनमें किसी विशेष लक्ष्य की ओर छात्र को ले जाने की कोई सचेत अथवा प्रच्छन्न इच्छा है तो स्पष्ट है कि वे उसके विकास में बाधा पहुँचा रहे हैं। किसी विशेष लक्ष्य के लिए मार्गदर्शन, चाहे वह लक्ष्य स्वयं निर्धारित किया गया हो अथवा दूसरों के द्वारा आरोपित हो, सृजनशीलता को नष्ट कर देता है।

यदि शिक्षक का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता से है न कि स्वयं अपनी पूर्व-धारणाओं से, तो वह बालक को प्रोत्साहित करेगा कि वह स्वयं अपने परिवेश को, अपने स्वभाव को, अपने धर्म तथा अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि को एवं इन सबके प्रभावों और परिणामों को समझे। स्वतन्त्रता की खोज में इस प्रकार का प्रोत्साहन बालक के लिए सहायक होगा। यदि अध्यापकों के हृदय में स्वयं प्रेम और स्वतन्त्रता है तो वे प्रत्येक छात्र की आवश्यकताओं और कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए उसकी देखभाल करेंगे; और तब वे उस यन्त्र के समान नहीं होंगे जो किसी पद्धति और सूत्र के अनुसार काम करता है; वे सहज मनुष्य होंगे जो सदा सचेत एवं सावधान रहते हैं।

छात्र किस वस्तु में सर्वाधिक रुचि रखता है, सही शिक्षा को इसका पता लगाने में उसकी सहायता करनी चाहिए। यदि वह अपनी सही वृत्ति नहीं खोज लेता तो उसे अपना समस्त जीवन व्यर्थ हुआ प्रतीत होगा; ऐसा काम करने में जिसको वह नहीं करना चाहता; वह कुण्ठा का अनुभव करेगा। यदि वह एक कलाकार बनना चाहता है और यदि उसके स्थान पर वह किसी आफिस में क्लर्क बन जाता है तो वह अपना सारा जीवन शिकायत करने में तथा कुढ़ने में बिता देगा। इसलिए यह पता लगाना सभी के लिए आवश्यक है कि छात्र क्या करना चाहता है और फिर यह देखना चाहिए कि क्या वह कार्य करने योग्य है? एक लड़का सैनिक बनना चाहता है; परन्तु इसके पहले कि वह सैनिक बनने का प्रशिक्षण ले उसे यह पता लगाने में मदद करनी चाहिए कि क्या समस्त मानव जाति के लिए सैन्य-वृत्ति लाभदायक है?

केवल अपनी क्षमताओं के विकास में ही नहीं वरन अपनी चरम अभिरुचियों को समझने में भी सम्यक् शिक्षा को छात्र की सहायता करनी चाहिए। युद्ध, विनाश और कष्ट से पीड़ित इस विश्व में यह आवश्यक है कि व्यक्ति में एक नई समाज-व्यवस्था का निर्माण करने की तथा एक भिन्न प्रकार के जीवन को विकसित करने की क्षमता हो।

एक शान्तिपूर्ण एवं प्रबुद्ध समाज का निर्माण करने की जिम्मेदारी मुख्यत: शिक्षक की ही है और उसके विषय में बिना किसी आवेशपूर्ण उत्तेजना के यह कहा जा सकता है कि ऐसे सामाजिक परिवर्तन को उपलब्ध करने में सहायता करने का उसे एक बहुत बड़ा अवसर मिला है। उचित प्रकार की शिक्षा न तो किसी सरकार के कानूनों पर निर्भर करती है, न किसी विशेष व्यवस्था-प्रणाली पर; वह हमारे हाथ में है; अभिभावकों और अध्यापकों के हाथ में है।

यदि अभिभावकों को वास्तव में अपने बालकों की चिन्ता होती तो वे एक नये समाज का निर्माण करते; परन्तु मौलिक बात यह है कि अधिकांश अभिभावकों को उनकी कोई चिन्ता है ही नहीं। और इसीलिए उनके पास इस अत्यधिक आवश्यक समस्या के लिए समय ही नहीं है। उनके पास धन कमाने के लिए, मनोरंजनों के लिए, कर्मकाण्डों तथा उपासना के लिए तो समय है, परन्तु यह विचार करने के लिए समय नहीं है कि उनके बच्चों के लिए शिक्षा का उचित रूप क्या हो। यह एक ऐसा तथ्य है जिसका अधिकांश व्यक्ति सामना नहीं करना चाहते। उसका सामना करने का अर्थ हो सकता है कि उन्हें अपने मौज-मस्ती और मनोरंजनों को छोड़ना पड़े और निश्चय ही वे ऐसा करने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए वे अपने बच्चों को घर से बाहर स्कूल भेज देते हैं ऐसे में जहाँ अध्यापक को उनकी उससे ज्यादा चिन्ता करनी भी चाहिए । लेकिन अध्यापक का अध्यापन तो केवल एक व्यवसाय है, धनोपार्जन का एक तरीका है।

यदि हम पर्दे को हटाकर देखें तो जो संसार हमने बनाया है वह बड़ा सतही, बड़ा नकली और बड़ा कुरूप है; और हम इस आशा से कि प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी प्रकार ठीक हो ही जायेगी उस पर्दे को अलंकृत करते हैं। दुर्भाग्य से अधिकांश व्यक्ति जीवन के विषय में तभी उत्साह दिखाते हैं जब उन्हें धन अर्जित करना होता है, शक्ति प्राप्त करनी होती है अथवा कामोत्तेजनाओं को सन्तुष्ट करना होता है। वे जीवन की दूसरी जटिल समस्याओं का सामना नहीं करना चाहते हैं

और यही कारण है कि जब उनके बच्चे बड़े होते हैं, तो वे उतने ही अपरिपक्व तथा खंडित होते हैं जितने कि उनके अभिभावक और इस प्रकार निरन्तर अपने से तथा संसार से संघर्ष करते रहते हैं।

बड़ी आसानी से हम कह देते हैं कि हम अपने बच्चों से प्रेम करते हैं; परन्तु क्या जब हम प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों को स्वीकार कर लेते हैं; जब इस विनाशकारी समाज में किसी मौलिक परिवर्तन के लिए हम तैयार नहीं होते, तो क्या हमारे हृदय में प्रेम होता है? और जब तक अपने बच्चों की शिक्षा के लिए हम विशेषज्ञों की ओर देखते रहेंगे तब तक यह भ्रान्ति और यह कष्ट बना रहेगा; क्योंकि विशेषज्ञ, जिनका सम्बन्ध केवल अंश से होता है न कि सम्पूर्ण से, स्वयं ही खंडित होते हैं।

शिक्षा को सर्वाधिक सम्मानजनक तथा दायित्वपूर्ण वृत्ति मानने के स्थान पर उसे अब हीन दृष्टि से देखा जा रहा है और अधिकांश शिक्षक दिन-प्रति-दिन के कार्यक्रम में ही जकड़ गये हैं। समन्वय तथा प्रज्ञा से उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं रह गया है। उनका काम सूचना देना मात्र है; और जहाँ व्यक्ति को चारों ओर का संसार खण्ड-खण्ड कर रहा हो, वह व्यक्ति जो केवल सूचना देता है, शिक्षक नहीं है।

शिक्षक का कार्य सूचना देना मात्र नहीं है। शिक्षक वह जो प्रज्ञा एवं सत्य के लिए मार्ग-निर्देशन करता है। सत्य वस्तुत: अध्यापक से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सत्य की खोज ही धर्म है; वह किसी देश या सिद्धान्त का नहीं होता; वह मन्दिर, चर्च तथा मस्जिद में नहीं मिलता। सत्य की खोज के अभाव में समाज का शीघ्र ही पतन हो जाता है। एक नवीन समाज की रचना के लिए हम में से प्रत्येक को एक सच्चा अध्यापक बनना पड़ेगा, जिसका अर्थ है कि हमको शिष्य और गुरु दोनों ही बनना होगा; हमें स्वयं अपने को शिक्षित करना होगा।

यदि एक नवीन समाज की व्यवस्था स्थापित करनी है तो शिक्षक के रूप में उन व्यक्तियों का कोई स्थान न होगा जो केवल वेतन कमाने के लिए पढ़ाते हैं। शिक्षा को जीविकोपार्जन का साधन समझना, बच्चों का स्वयं अपने लाभ के लिए शोषण करना है। एक प्रबुद्ध समाज में शिक्षकों को अपने कल्याण की चिन्ता नहीं करनी होती, समाज उनकी आवश्यकताओं की देख-भाल करेगा।

एक सच्चा अध्यापक वह नहीं है जिसने एक प्रभावशाली शिक्षण संस्था का निर्माण किया है या जो राजनीतिज्ञों का एक उपकरण है, और न तो वह जिसने अपने को एक आदर्श, एक विश्वास अथवा एक देश से बाँधा है। सच्चा अध्यापक आभ्यंतर में समृद्ध होता है, अतः अपने लिए कुछ नहीं चाहता; वह महत्त्वाकांक्षी नहीं होता, इसलिए वह किसी भी रूप में सत्ता की चाह नहीं करता। वह अपने अध्यापन को पद अथवा सत्ताधिकार प्राप्त करने का साधन नहीं बनाता और इसीलिए समाज की बाध्यता से तथा सरकारों के नियन्त्रण से वह मुक्त होता है। एक प्रबुद्ध सभ्यता में ऐसे अध्यापकों का आधारभूत स्थान होता है, क्योंकि सच्ची संस्कृति इन्जीनियरों और तकनीक ज्ञाताओं पर नहीं, बल्कि शिक्षकों पर आधारित होती है।



अभिभावक और अध्यापक

सही शिक्षा शिक्षक से ही आरम्भ होती है। शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को समझे तथा विचार के स्थापित प्रारूपों से मुक्त हो; क्योंकि जो कुछ वह स्वयं होता है वही वह दूसरों को देता है। यदि वह स्वयं उचित रूप से शिक्षित नहीं हुआ है तो वह उस यान्त्रिक ज्ञान के अतिरिक्त जिसके आधार पर स्वयं उसका निर्माण हुआ है दूसरों को क्या दे सकता है? अतः समस्या बालक नहीं वरन अभिभावक और अध्यापक है; समस्या शिक्षक को शिक्षित करने की है।

हम जो शिक्षक हैं यदि स्वयं अपने को नहीं समझते, यदि हम बालक के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझते, और उसे केवल सूचनाओं से भरते रहते हैं तथा परीक्षाएँ उत्तीर्ण कराते रहते हैं, तो हम कैसे एक नये प्रकार की शिक्षा ला सकते हैं? छात्र इसीलिए होता है कि उसका मार्गदर्शन किया जाय और उसकी सहायता की जाय; परन्तु यदि मार्गदर्शन अथवा सहायक स्वयं ही भ्रान्त है, संकीर्ण है, राष्ट्रवादी है तथा सिद्धान्तों से ग्रसित है तो स्वाभाविक है कि उसका शिष्य भी वही होगा जो वह है। उस अवस्था में शिक्षा और अधिक भ्रान्ति तथा कलह का कारण बनेगी।

यदि हमें इस सत्य का साक्षात्कार हो जाय तब हम अनुभव करेंगे कि हमें अपने को उचित प्रकार से शिक्षित करना कितना महत्त्वपूर्ण है। अपने स्वयं के पुनर्शिक्षण की चिन्ता करना, बालक के भविष्य के कल्याण और उसकी सुरक्षा की चिन्ता से कहीं अधिक आवश्यक है।

शिक्षक को शिक्षित करना— अर्थात उसे स्वयं को समझने के लिए तैयार करना— एक सर्वाधिक कठिन कार्य है, क्योंकि हममें से अधिकांश व्यक्ति किसी विचार-प्रणाली में अथवा कर्म के ढाँचे में पहले ही ढाले जा चुके हैं; हमने पहले ही अपने को किसी विचार-प्रणाली को अथवा किसी धर्म को अथवा व्यवहार के किसी विशेष मापदण्ड के प्रति समर्पित कर दिया है। यही कारण है कि हम बालक को सिखाते हैं कि वह क्या सोचें, न कि वह कैसे सोचें।

इसके अतिरिक्त अभिभावक और अध्यापक अधिकांश रूप से अपने स्वयं के द्वन्द्वों और परेशानियों में व्यस्त रहते हैं। धनी हो अथवा निर्धन, अधिकांश अभिभावक अपनी व्यक्तिगत चिन्ताओं और मुसीबतों में पड़े रहते हैं। उन्हें वर्तमान सामाजिक अथवा नैतिक पतन की कोई गम्भीर चिन्ता नहीं होती, उनकी केवल यह चिन्ता होती है कि उनके बच्चे इस योग्य बनें कि संसार में सफलतापूर्वक जी सकें। वे अपने बच्चों के भविष्य के बारे में चिन्तित होते हैं; वे इसके लिए उत्सुक होते हैं कि उनके बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे कि वे सुरक्षित पद प्राप्त कर सकें अथवा भली प्रकार विवाह कर सकें।

साधारणत: जैसा विश्वास किया जाता है ठीक इसके विपरीत, अधिकांश अभिभावक अपने बच्चों से प्रेम नहीं करते, यद्यपि उनसे प्रेम करने की बात वे कहते रहते हैं। यदि अभिभावक वास्तव में अपने बच्चों से प्रेम करते तो सम्पूर्ण के विरोध में केवल परिवार और राष्ट्र को गौरव नहीं दिया जाता। ऐसा करना मनुष्यों के बीच में सामाजिक और जातीय विभाजन उत्पन्न करता है तथा युद्ध और भूख की पीड़ा भी पैदा करना है। यह सचमुच बड़ा आश्चर्यजनक है कि वकील अथवा डाक्टर होने के लिए व्यक्तियों को बड़ी कठोरता से प्रशिक्षित किया जाता है जबकि अभिभावक बनने के इतने महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उन्हें किसी प्रकार का प्रशिक्षण नहीं लेना पड़ता।

अधिकतर यही होता है कि परिवार अपनी अलग प्रवृत्तियों के कारण पृथकता की सामान्य प्रक्रिया को प्रोत्साहित करता है और इस प्रकार समाज में पतनोन्मुख कारण बनते हैं। जब प्रेम और बोध होता है तभी पृथकता की दीवारें टूटती हैं और तभी परिवार एक बन्द घेरा नहीं रह जाता, तब वह न तो एक जेल रहता है और न शरणस्थल; उस अवस्था में अभिभावकों का केवल अपने बच्चों से ही नहीं वरन अपने पड़ोसियों से भी संवाद रहता है।

स्वयं अपनी समस्याओं में व्यस्त रहने के कारण अनेक अभिभावक अपने बच्चों के कल्याण का दायित्व अध्यापक को सुपुर्द कर देते हैं, और तब यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षक अभिभावकों की शिक्षा में सहायता करें।

उसे उनसे बात करनी चाहिए और उन्हें समझना चाहिए कि विश्व की भ्रांत अवस्था स्वयं अपनी व्यक्तिगत भ्रांतियों का परिणाम है। उसे यह बताना चाहिए कि वैज्ञानिक प्रगति स्वत: ही प्रचलित मूल्यों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं उत्पन्न

करेगी, कि तकनीकी प्रशिक्षण ने, जिसे आज शिक्षा कहा जाता है, मनुष्य को मुक्ति नहीं दी और न ही उसे और अधिक सुखी बनाया, और यह भी वर्तमान परिवेश को स्वीकार करने के लिए बालक को संस्कारबद्ध करना प्रज्ञा के विकास के अनुकूल न होगा। शिक्षक द्वारा अभिभावकों को यह बता दिया जाना चाहिए कि वह उनके बालक के लिए क्या करने का प्रयत्न कर रहा है तथा अपने कार्य को वह कैसे आरम्भ कर रहा है। उसे अभिभावकों के विश्वास को जगाना होता है, एक विशेषज्ञ बन कर नहीं कि जैसे वह अपने अधिकार की स्थिति से किसी अज्ञानी तथा सामान्य व्यक्ति से व्यवहार कर रहा हो, बल्कि उसे बालक के स्वभाव, कठिनाईयों; अभिवृत्तियों आदि के विषय में उनसे बात करनी होती है।

यदि अध्यापक बालक में व्यक्तिगत रूप से वास्तविक रुचि लेता है तो अभिभावकों को उस पर विश्वास होगा। इस प्रक्रिया में अध्यापक अभिभावकों को तथा स्वयं अपने को शिक्षित कर रहा है, वह अभिभावकों से भी बदले में कुछ सीख रहा है। सम्यक् शिक्षा एक पारस्परिक कार्य है जिसके लिए धैर्य, सहानुभूति तथा प्रेम की आवश्यकता होती है। एक प्रबुद्ध समाज में प्रबुद्ध अध्यापकों को इस समस्या पर विचार करना चाहिए कि बच्चों को कैसे विकसित किया जाय, और रुचि रखने वाले अध्यापकों तथा विचारवान अभिभावकों को उन्हीं दिशाओं में छोटे स्तर पर प्रयोग करना चाहिए।

क्या कभी अभिभावकों ने अपने से यह प्रश्न किया है कि उन्हें बच्चे क्यों चाहिए? क्या वे अपने नाम को बनाये रखने के लिए, अपनी सम्पत्ति सुरक्षित रखने के लिए बच्चे चाहते हैं? क्या वे स्वयं अपने आनन्द के लिए, अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए बच्चे चाहते हैं? यदि ऐसा है तो बच्चे अपने अभिभावकों की इच्छाओं और आशंकाओं के प्रक्षेपण मात्र हैं।

क्या अभिभावक यह दावा कर सकते हैं कि वे अपने बच्चों से प्रेम करते हैं, जबकि दोषपूर्ण शिक्षा देकर वे उनमें द्वेष, बैर-भाव तथा महत्त्वाकांक्षा का पोषण कर रहे हैं? क्या यह प्रेम है जो ऐसे राष्ट्रीय और जातीय संघर्ष उत्प्रेरित करता है जिनसे युद्ध, विनाश और अपार कष्ट होता है, जो धर्मों और विचार-प्रणालियों के नाम पर मनुष्य को मनुष्य के विरोध में खड़ा कर देता है?

बालक को दूषित शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति देकर नहीं वरन् स्वयं अपनी जीवन-पद्धति के द्वारा भी अनेक अभिभावक उसे द्वन्द्व और दुख के मार्गों

पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं; और तब जब वह बड़ा होता है, कष्ट उठाता है, वे उसके लिए प्रार्थना करते हैं तथा उसकी सहायता के लिए खोजते हैं। अपने बच्चों के लिए अभिभावकों का कष्ट उठाना एक प्रकार की अधिकार-वृत्ति वाली आत्म-दया है, जिसका अस्तित्व तभी होता है जब प्रेम नहीं होता।

यदि अभिभावक अपने बच्चों से प्रेम करते तो वे राष्ट्रवादी न होते, वे किसी एक देश से अपना तादात्म्य न रखते; क्योंकि राज्य की उपासना युद्ध लाती है जो उनके पुत्रों की हत्या करता है अथवा उन्हें विकलांग बनाता है। यदि अभिभावक अपने बच्चों से प्रेम करते हैं तो वे यह भी जानेंगे कि सम्पत्ति के साथ सही सम्बन्ध क्या होता है; क्योंकि परिग्रही प्रवृत्ति ने सम्पत्ति को बहुत अधिक परन्तु भ्रामक महत्त्व दे दिया है जो विश्व को नष्ट कर रहा है। यदि अभिभावक अपने बच्चों से प्रेम करते हैं तो वे किसी संगठित धर्म को नहीं मानेंगे; क्योंकि रूढ़ि-सिद्धान्त और विश्वास, लोगों को विरोधी गुटों में विभाजित कर देते हैं, मनुष्य और मनुष्य के बीच संघर्ष उत्पन्न करते हैं। अत: यदि अभिभावक अपने बच्चों से सचमुच प्रेम करते हैं तो वे द्वेष और कलह को त्याग कर वर्तमान समाज की संरचना में मौलिक परिवर्तन करना आरम्भ करेंगे।

जब तक हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे शक्तिशाली बने, ऊँचे और अच्छे पदों को प्राप्त करें, अधिकाधिक सफल हों, तब तक हमारे हृदय में प्रेम नहीं है, क्योंकि सफलता की उपासना द्वन्द्व और कष्ट को प्रोत्साहन देती है। अपने बच्चों से प्रेम करने का अर्थ है कि उनके साथ पूर्णतया संवाद में होना; यह देखना कि उनको ऐसी शिक्षा मिल रही है जो उनके लिए संवेदनशील, प्रज्ञावान और समन्वित बनने में सहायक हो।

जब कोई अध्यापक अध्यापन करने का निश्चय कर लेता है तो सबसे पहला प्रश्न, जो उसे अपने से करना चाहिए, यह है कि अध्यापन का ठीक-ठीक अर्थ क्या है ? क्या वह सामान्य विषयों को उसी प्रकार से पढ़ाने जा रहा है जिसका वह अभ्यस्त है? क्या वह बालक को सामाजिक यन्त्र का एक पुर्जा बनाने के लिए संस्कारबद्ध करना चाहता है अथवा वह चाहता है कि एक समन्वित, सृजनशील मनुष्य बनने में, मिथ्या मूल्यों के लिए एक खतरा बनने में, वह बालक के लिए सहायक हो? और यदि शिक्षक बालक की सहायता करना चाहता है कि वह उन मूल्यों और उनके प्रभावों को समझे तथा उनकी छान-बीन करे जो उसे चारों ओर

से घेरे हुए हैं जिनका वह एक अंग है, तो क्या यह आवश्यक नहीं कि शिक्षक अपने प्रति जागरूक हो? यदि कोई व्यक्ति अन्धा है तो नदी के किनारे पहुँचने पर वह दूसरे की कैसे सहायता कर सकता है?

निस्संदेह, यह आवश्यक है कि पहले अध्यापक स्वयं समझना आरम्भ करे। उसे निरन्तर चौकन्ना रहना चाहिए तथा स्वयं अपने विचारों और भावनाओं के प्रति अत्यन्त जागरूक होना चाहिए; उसे उन तरीकों के प्रति जागरूक होना चाहिए जिनसे वह संस्कारबद्ध है; उसे अपनी क्रियाओं और गतिविधियों के प्रति जागरूक होना चाहिए। इसी जागरूकता से प्रज्ञा आती है, और इसी से अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध में मौलिक परिवर्तन होता है।

प्रज्ञा का परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रज्ञा वह सहज प्रत्यक्ष दर्शन है जो मनुष्य को शक्तिशाली एवं स्वतंत्र बनाती है। बालक में यदि इस प्रज्ञा को जगाना है तो यह आवश्यक है कि वह स्वयं भी समझे कि प्रज्ञा क्या है; क्योंकि जब स्वयं अपने ही अन्दर अनेक प्रकार से उस प्रज्ञा का अभाव रहेगा तो हम बालक को प्रज्ञावान, विवेकपूर्ण होने के लिए कैसे कह सकते हैं? समस्या यहाँ केवल छात्र की कठिनाइयों की ही नहीं है बल्कि स्वयं अपनी भी है : हमारे भीतर भी भय हैं जो निरन्तर संचित होते रहते हैं; हम भी दुखों और कुण्ठाओं से मुक्त नहीं हैं। विवेकपूर्ण बनने में बालक की सहायता करने के लिए हमें अपने अन्दर की उन बाधाओं को तोड़ देना है जो हमें मन्द और विचारहीन बनाती हैं।

जब हम स्वयं व्यक्तिगत सुरक्षा की खोज में लगे हैं तो हम बालकों को कैसे इसकी शिक्षा दे सकते हैं कि वे इसकी खोज न करें? बालक के विषय में क्या आशा की जा सकती है कि हम, जो उसके अभिभावक तथा अध्यापक हैं, अपने जीवन के प्रति पूर्णरूप से खुले हुए नहीं है, अपने ही चारों ओर सुरक्षात्मक दीवारें खड़ी किये हुए हैं? सुरक्षा के लिए संघर्ष विश्व में चारों ओर बड़ी दुर्व्यवस्था उत्पन्न कर रहा है और इस संघर्ष के सही महत्त्व को जानने के लिए यह आवश्यक है कि अपनी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के प्रति जागरूक होकर हम स्वयं अपने विवेक को, प्रज्ञा को जगायें। हमें उन सभी मूल्यों के विषय में प्रश्न उठाना आरम्भ करना चाहिए जो आज हमें चारों ओर से घेरे है।

यह उचित नहीं है कि उसी ढाँचे में बिना विचार के हम अपने को फिट करते रहें जिसमें हमारा विकास हुआ है। यदि हम अपने को नहीं समझते तो कैसे कभी भी व्यक्ति में, और इस प्रकार समाज में, सामंजस्य हो सकता है? जब तक शिक्षक अपने को नहीं समझता, जब तक वह स्वयं अपनी संस्कारबद्ध प्रतिक्रियाओं को नहीं देखता और अपने को प्रचलित मूल्यों से मुक्त करना आरम्भ नहीं करता, तब तक वह कैसे बालक में प्रज्ञा जागृत कर सकता है? और यदि वह बालक में प्रज्ञा जागृत नहीं कर सकता तो फिर उसका कार्य ही क्या है?

स्वयं अपने विचारों और भावनाओं की प्रतिक्रियाओं को समझकर ही हम एक स्वतंत्र मनुष्य बनने में बालक की वास्तविक सहायता कर सकते हैं, और यदि शिक्षक का इससे कोई गहरा एवं सक्रिय सम्बन्ध है, तो उसमें केवल बालक के प्रति ही नहीं, अपने प्रति भी गहरी जागरूकता होगी।

हममें से बहुत कम ही लोग ऐसे हैं जो स्वयं अपने विचारों और भावनाओं का निरीक्षण करते हैं। यदि वे विचार एवं भावनाएँ हमें कुरूप प्रतीत होती हैं तो हम उनके पूरे महत्त्व को समझने का प्रयत्न नहीं करते; हम या तो उन्हें केवल रोकने का प्रयत्न करते हैं या उनकी उपेक्षा कर देते हैं। हमें स्वयं अपने प्रति गहरी जागरूकता नहीं है। हमारे विचार और हमारी भावनाएँ घिसी-पिटी हैं, स्वचालित हैं, और हम उन्हें बच्चों को दे देते हैं।

परन्तु यदि हमारी अभिरुचि सक्रिय है तो हम केवल इसका ही पता लगाने का प्रयत्न नहीं करेंगे कि विश्व के विभिन्न भागों में शिक्षा के कौन से प्रयोग हो रहे हैं, वरन शिक्षा की सम्पूर्ण समस्या के ही प्रति स्वयं अपने दृष्टिकोण को बहुत अधिक स्पष्ट करना चाहेंगे; हम अपने से यह प्रश्न करेंगे कि क्यों और किस उद्देश्य से हम बालकों को तथा अपने को शिक्षित कर रहे हैं, हम अस्तित्व के अर्थ का, व्यक्ति के समाज के प्रति सम्बन्ध का अन्वेषण करेंगे। निस्संदेह शिक्षकों को इन समस्याओं के प्रति जागरूक होना चाहिए और बालक के ऊपर स्वयं अपनी विचित्रताओं तथा विचार की आदतों का आरोपण किये बिना उन समस्याओं के सत्य की खोज में बालक की सहायता करनी चाहिए।

केवल किसी व्यवस्था-प्रणाली का अनुगमन करना, चाहे वह राजनीतिक हो अथवा शैक्षिक, हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं करेगा, और स्वयं किसी समस्या को समझने की अपेक्षा यह समझना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उस समस्या के प्रति अभिमुख होने का हमारा क्या तरीका है।

यदि बालकों को भय से मुक्त होना है— चाहे वह भय अपने अभिभावकों से हो अथवा अपने परिवेश या ईश्वर से हो— तो शिक्षक को स्वयं भी कोई भय नहीं होना चाहिए। परन्तु यही कठिनाई है; ऐसे अध्यापकों को खोजना, जो किसी प्रकार के भय के शिकार न हों, कठिन है। भय विचार को संकीर्ण कर देता है तथा आगे बढ़ने की प्रवृत्ति को सीमित करता है, और एक अध्यापक जो भयभीत है, वह स्पष्ट है कि भय मुक्ति की अवस्था के गहरे महत्त्व को नहीं समझा सकता। अच्छाई की तरह भय भी संक्रामक होता है। यदि शिक्षक स्वयं प्रच्छन्न रूप से भयभीत है तो वह उस भय को अपने छात्रों को सम्प्रेषित कर देगा, यद्यपि यह हो सकता है कि संक्रमण तत्काल न दिखायी दे।

उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि एक अध्यापक जनमत से भयभीत है; वह अपने भय की मूर्खता को समझता है और फिर भी उसके परे नहीं जा सकता। तो उसे क्या करना चाहिए? कम-से-कम वह स्वयं अपने से उस भय को स्वीकार तो कर ही सकता है और अपनी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं को छात्रों के सामने रखकर तथा उनके विषय में उनसे खुली चर्चा करके भय के स्वरूप को समझने में उनकी सहायता कर सकता है। ईमानदारी तथा सच्चाई का यह दृष्टिकोण छात्रों को बड़ा प्रोत्साहित करेगा और वे भी अपने बीच और अपने अध्यापक के साथ उसी प्रकार से खुले और स्पष्टवादी बनेंगे।

बालक को स्वतन्त्रता देने के लिए शिक्षक को स्वयं भी स्वतन्त्रता के निहितार्थों के प्रति तथा उसके पूरे महत्त्व के प्रति जागरूक होना चाहिए। किसी अन्य व्यक्ति का उदाहरण और किसी भी प्रकार का दबाव इस स्वतन्त्रता को उत्पन्न करने में सहायक नहीं होते और केवल स्वतंत्रता में ही आत्म-अन्वेषण तथा अन्तर्दृष्टि सम्भव होती है।

बालक के ऊपर उसके चारों ओर के लोगों तथा वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है; इन प्रभावों और उनके वास्तविक मूल्य को स्पष्ट करने में सही शिक्षक को बालक की सहायता करनी चाहिए। समाज अथवा परम्परा के प्रामाण्य के द्वारा सम्यक् मूल्यों को नहीं खोजा जा सकता; केवल व्यक्तिगत विचारशीलता ही उन्हें प्रकट कर सकती है।

यदि कोई व्यक्ति इसको गहराई से समझता है तो वर्तमान व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों के प्रति अन्तर्दृष्टि जगाने में वह बिल्कुल आरम्भ से ही बालक को प्रोत्साहित करेगा। उसका प्रोत्साहन किन्हीं विशेष प्रकार के मूल्यों की खोज

के लिए नहीं होगा बल्कि देखेगा कि बालक की खोज सभी वस्तुओं के वास्तविक जीवन-मूल्य के प्रति होनी है। वह उसकी निर्भय होने में सहायता करेगा, जिसका अर्थ है कि सभी प्रकार के आधिपत्य से मुक्ति— आधिपत्य चाहे अध्यापक का हो अथवा परिवार का अथवा समाज का, जिससे कि प्रेम और अच्छाई में वह एक व्यक्ति के रूप में पुष्पित हो सके। इस प्रकार स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने में छात्र की सहायता करके शिक्षक स्वयं अपने जीवन-मूल्यों को भी बदल रहा है; वह भी "मैं" और "मेरा" से मुक्ति पाना शुरू कर रहा है, वह भी प्रेम और अच्छाई में पुष्पित हो रहा है। परस्पर शिक्षण की यह प्रक्रिया अध्यापक और छात्र के बीच एक बिल्कुल दूसरे ही प्रकार का सम्बन्ध उत्पन्न करती है।

किसी भी प्रकार का आधिपत्य अथवा बाध्यता, स्वतन्त्रता और प्रज्ञा के लिए एक बाधा है। सही शिक्षक का समाज में न तो कोई अधिकार होता है, न शक्ति; वह समाज के विधि-निषेधों और मान्यताओं से परे होता है। यदि हम बालक को इन बाधाओं से मुक्त करना चाहते हैं—बाधाएँ जिन्हें स्वयं उसने तथा उसके परिवेश ने उत्पन्न किया है— तो बाध्यता और आधिपत्य के प्रत्येक रूप को समझना तथा समाप्त करना आवश्यक है; परन्तु यदि शिक्षक स्वयं ही अपने को अशक्त करने वाली सभी प्रकार की सत्ता से मुक्त नहीं करता, तो ऐसा करना सम्भव नहीं है।

दूसरे का अनुगमन करना, चाहे वह कितना भी महान क्यों न हो, 'स्व' की प्रक्रिया की खोज में बाधक बनता है; बने-बनाये यूटोपिया (काल्पनिक स्वर्गराज्य) के आश्वासनों के पीछे दौड़ने से मन स्वयं अपनी वासना के घेरे में कैद रहता है और फिर भी उसके प्रति अज्ञानी रहता है। यह वासना निरन्तर ही अपनी सुविधा, सत्ता तथा दूसरे की सहायता को प्राप्त करने के पीछे दौड़ती रहती है। पुरोहित, राजनीतिज्ञ, वकील, सैनिक, सभी हमारी "सहायता" के लिए हैं; परन्तु ऐसी सहायता प्रज्ञा और स्वतन्त्रता को नष्ट करती है। जिस सहायता की हमें आवश्यकता है वह स्वयं हमसे बाहर कहीं नहीं है। हमें सहायता के लिए भिक्षा माँगने की आवश्यकता नहीं है; जब हम उस काम में नम्रता पूर्वक लगे हैं जिसके प्रति हम समर्पित हैं, तो वह सहायता बिना हमारे प्रयत्न के ही आती है।

समर्थन तथा प्रोत्साहन की चेतन अथवा अचेतन लालसा स्वयं अपनी प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है जो सदा तुष्टि देने वाली होती है। किसी ऐसे व्यक्ति का होना जो

हमें प्रोत्साहित करे, जो हमारा नेतृत्व करे तथा जो हमें सान्त्वना दे, हमें, बड़ा सुविधाजनक लगता है; परन्तु दूसरे को मार्ग निर्देशक अथवा अधिकारी समझकर उसकी ओर देखने की यह आदत हमारी व्यवस्था में शीघ्र ही विष का कार्य करती है। जैसे ही हम मार्ग निर्देशन के लिए दूसरों पर आश्रित होते हैं कि हम अपने मूल लक्ष्य को भूल जाते हैं, जो कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रज्ञा को जगाना था।

सभी प्रकार की सत्ता एक बाधा है और यह आवश्यक है कि शिक्षक छात्र के लिए सत्ताधारी न बने। सत्ता का निर्माण होना केवल चेतन ही नहीं वरन अचेतन प्रक्रिया भी है।

छात्र अनिश्चित है, अँधेरे में टटोल रहा है; परन्तु अध्यापक अपने ज्ञान में निश्चित है, अपने अनुभव में दृढ़ है। अध्यापक की दृढ़ता और निश्चितता में छात्र आश्वस्त रहना भी चाहता है; परन्तु ऐसा आश्वासन न तो स्थायी होता है और न सत्य। ऐसा अध्यापक जो चेतन अथवा अचेतन रूप से पर-निर्भरता को प्रोत्साहित करता है, अपने छात्रों के लिए कभी अधिक सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। अपने ज्ञान से वह उन्हें जीत सकता है, अपने व्यक्तित्व से वह उन्हें चमत्कृत कर सकता है, परन्तु वह एक सही शिक्षक नहीं है, क्योंकि उसका ज्ञान और उसका अनुभव उसकी एक आदत है, उसकी सुरक्षा है, उसका जेलखाना है, और जब तक वह उनसे अपने को मुक्त नहीं करता, समन्वित मनुष्य बनने में वह अपने छात्रों की सहायता नहीं कर सकता।

एक सही शिक्षक बनने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक पुस्तकों और प्रयोग-शालाओं से अपने को निरन्तर मुक्त करता रहे, उसे सदा इसकी सावधानी बरतनी पड़ती है कि छात्र कहीं उसे एक उदाहरण, एक आदर्श, एक अधिकारी न बना ले। जब अध्यापक अपने छात्रों के माध्यम से अपने को परितुष्ट करने की वासना रखता है, जब छात्रों की सफलता उसकी अपनी सफलता होती है, तो उसका शिक्षण आत्म-सातत्य का ही एक रूप होता है और यह आत्मज्ञान तथा स्वतन्त्रता के लिए हानिकारक है। अध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन बाधाओं के प्रति जागरूक हो, जिससे कि वह अपने छात्रों को केवल अपने ही अधिकार से नहीं वरन उनके अपने आत्म-परिवेष्ठित करने वाले प्रयासों से भी मुक्त कर सके।

दुर्भाग्य से जब किसी समस्या को समझने का प्रश्न उठता है, अधिकांश अध्यापक उस समस्या को समझने में छात्र को समान भागीदार नहीं बनाते; अपने ऊँचे ओहदे से वे शिष्य को आदेश देते हैं मानों वह उनसे कहीं नीचे हो। ऐसा सम्बन्ध छात्र एवं अध्यापक दोनों में भय उत्पन्न करता है। असमान सम्बन्ध का क्या कारण है? क्या अध्यापक भयभीत है कि उसकी पोल खुल जायेगी? क्या अध्यापक अपनी तुनुकमिजाजी को, अपने महत्त्व को छिपाने के लिए एक सम्मानजनक दूरी रखता है? श्रेष्ठ भावना वाली यह पृथकता उन दीवारों को तोड़ने में किसी प्रकार की सहायता नहीं करती जो व्यक्तियों को पृथक रखती हैं। आखिर शिक्षक तथा उसके शिष्य दोनों ही अपने को शिक्षित करने में एक-दूसरे की सहायता कर रहे हैं।

सभी प्रकार के सम्बन्धों को पारस्परिक शिक्षण का रूप ले लेना चाहिए; और चूँकि ज्ञान, उपलब्धि, महत्त्वाकांक्षा आदि से मिलने वाला सुरक्षात्मक अलगाव केवल द्वेष एवं विरोध ही उत्पन्न करता है, इसलिए सही शिक्षक को अपने चारों ओर की इन दीवारों का अतिक्रमण करना चाहिए जिनसे वह स्वयं घिरा है।

सही शिक्षक चूँकि पूर्णतया व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके समन्वय के लिए ही समर्पित है, अतः वह एक गहरे अर्थ में सच्चा धार्मिक व्यक्ति है। वह किसी सम्प्रदाय का नहीं होता और न ही किसी संगठित धर्म का; वह विश्वासों एवं कर्मकाण्डों से भी मुक्त है, क्योंकि वह जानता है कि वे सब भ्रम हैं, कल्पनाएँ तथा अन्धविश्वास हैं, जो उनको बनाने वालों की वासनाओं द्वारा प्रक्षिप्त की हुई हैं। यही शिक्षक जानता है कि यथार्थता अथवा ईश्वर तभी अभिव्यक्ति होता है जब आत्मज्ञान हो और इसलिए मुक्त हो।

जिन लोगों के पास कोई शास्त्रीय पदवी नहीं होती है वे प्रायः बड़े अच्छे अध्यापक बनते हैं, क्योंकि वे प्रयोग के लिए तैयार रहते हैं; विशेषज्ञ न होने के कारण वे सीखने में, जीवन को समझने में रुचि रखते हैं। एक सच्चे अध्यापक के लिए अध्यापन तकनीक नहीं है, वह उसकी जीवन-पद्धति है; एक बड़े कलाकार की भाँति वह अपने सृजनशील कार्य को छोड़ने के स्थान पर भूखों मरना अधिक पसन्द करेगा। जब तक व्यक्ति में अध्यापन करने की ज्वलन्त अभिलाषा न हो, उसे अध्यापक नहीं बनना चाहिए। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति इसका पता लगाये कि उसमें यह प्रतिभा है अथवा नहीं; केवल जीविकोपार्जन के साधन के लिए अध्यापन में आना उचित न होगा।

तब तक अध्यापन एक व्यवसाय है, जीविकोपार्जन का एक साधन है, न कि एक ऐसी वृत्ति जिसके लिए व्यक्ति समर्पित है, तब तक हमारे तथा संसार के बीच एक गहरी खाई बनी रहेगी; हमारा घरेलू जीवन तथा हमारा काम एक-दूसरे से पृथक एवं भिन्न रहेंगे। जब तक शिक्षा दूसरी नौकरियों की भाँति एक नौकरी है, तब तक व्यक्तियों में तथा समाज के विभिन्न वर्ग-स्तरों में द्वन्द्व तथा बैर-भाव अनिवार्य है तथा प्रतिद्वंद्विता, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं का निष्ठुरतापूर्वक अनुसरण तथा राष्ट्रीय एवं जातीय विभाजनों में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी और ये ही हैं जो संघर्ष तथा कभी न समाप्त होने वाले युद्धों का कारण होते हैं।

परन्तु जब सही प्रकार के शिक्षक बनने के लिए हम अपने को समर्पित कर देते हैं, तब हम अपने घर तथा स्कूल के जीवन के बीच दीवारें नहीं खड़ी करते, क्योंकि सर्वत्र हमारा सम्बन्ध स्वतन्त्रता तथा प्रज्ञा से होता है। हम धनी तथा निर्धन सभी के बच्चों को एक समान देखते हैं तथा प्रत्येक बालक को एक ऐसा व्यक्ति मानते हैं जिसका अपना विशेष स्वभाव एवं वंशानुक्रम है, विशेष महत्त्वाकांक्षाएँ हैं। हमारा सम्बन्ध किसी वर्ग से नहीं होता, न तो शक्तिशाली से और न निर्बल से; हमारा सम्बन्ध केवल व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा एकीकरण से होता है।

यह आवश्यक है कि सही शिक्षा के प्रति समर्पण पूर्णतया ऐच्छिक हो। वह किसी प्रकार के दबाव का अथवा व्यक्तिगत लाभ की आशा का परिणाम नहीं होना चाहिए, और इसे उन भय से मुक्त होना चाहिए जो सफलता तथा उपलब्धि की लालसा से उत्पन्न होते हैं। विद्यालय की सफलता अथवा असफलता के साथ व्यक्ति का तादात्म्य भी व्यक्तिगत स्वार्थ के क्षेत्र के ही अन्तर्गत आता है। यदि अध्यापन करना व्यक्ति की वृत्ति है, यदि सही शिक्षा को वह व्यक्ति मूलभूत आवश्यकता समझता है, तो व्यक्ति स्वयं अपनी अथवा दूसरे की महत्त्वाकांक्षाओं को अपने मार्ग में बाधक न बनने देगा और न अपने रास्ते से विचलित होगा। वह अपने कार्य के लिए समय तथा अवसर खोज ही लेगा और वह उसमें पुरस्कार, सम्मान अथवा यश की लालसा के बिना ही लग जायेगा। तब दूसरी सभी वस्तुएँ, परिवार, व्यक्तिगत सुरक्षा, सुविधा आदि गौण महत्त्व की हो जाती हैं।

यदि शिक्षक होने के प्रति हमारी लगन है तो हम शिक्षा की किसी विशेष प्रणाली से ही नहीं, वरन सभी प्रणालियों से पूर्णतया असंतुष्ट रहेंगे, क्योंकि हम

देखते हैं कि कोई भी शिक्षणप्रणाली व्यक्ति को मुक्त नहीं कर सकती। कोई पद्धति अथवा प्रणाली उसे भिन्न प्रकार के मूल्यों की किसी दूसरी व्यवस्था से प्रतिबद्ध तो कर सकती है, परन्तु उसे मुक्त नहीं कर सकती।

हमें इसकी भी बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है कि हम कहीं अपनी ही किसी विशेष प्रणाली के फंदे में न फँस जायें जिसे हमारा मन सदा रचता रहता है। आचरण अथवा कार्य के किसी प्रारूप को उपलब्ध कर लेना एक सुविधाजनक एवं सुरक्षित प्रक्रिया है, और यही कारण है कि मन उसकी रचना में शरण लेता है। निरन्तर सचेत रहना कष्टप्रद और बोझिल होता है, जबकि किसी प्रणाली के विकास के लिए तथा उसके अनुगमन के लिए अधिक विवेक-बुद्धि की अवश्यकता नहीं होती ।

पुनरावृत्ति तथा आदत मन को स्फूर्तिविहीन बनाने की ओर प्रवृत्त करती हैं; उसे जगाने के लिए एक चोट की आवश्यकता होती है—चोट, जिसे तब हम एक समस्या कहते हैं। इस समस्या का समाधान हम अपनी जीर्ण-शीर्ण व्याख्याओं, औचित्य-समर्थनों एवं निंदाओं से करते हैं और ये सभी मन को पुनः सुला देते हैं। इस प्रकार की तन्द्रा में मन निरन्तर फँसता रहता है। एक सही शिक्षक केवल अपने में ही इसका अन्त नहीं करता, वरन अपने छात्रों की भी सहायता करता है कि वे उसके प्रति जागरूक हों।

कुछ व्यक्ति यह प्रश्न कर सकते हैं कि "सही शिक्षक कैसे बना जाता है?" निस्संदेह "कैसे" का प्रश्न मन के मुक्त होने का सूचक नहीं है; वह एक ऐसे मन का सूचक है जो भीरु है; जो किसी लाभ, किसी परिणाम की खोज में लगा है। कुछ बनने की आशा एवं प्रयत्न मन को उसके इच्छित लक्ष्य के अनुरूप बनाता है; जबकि मुक्त मन सतत रूप से जागरूक रहता है, सीखता रहता है और इस प्रकार आत्मप्रक्षिप्त बाधाओं को तोड़ कर आगे निकलता रहता है।

स्वतन्त्रता आरम्भ में ही होती है— वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे अन्त में प्राप्त किया जाता है। जैसे ही कोई व्यक्ति पूछता है "कैसे?" तो उसके सामने अनेक ऐसी कठिनाइयाँ आ जाती है जिन पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। वह अध्यापक जो शिक्षा को अपना जीवन समर्पित करने के लिए इच्छुक है, वह कभी ऐसा प्रश्न नहीं करेगा, क्योंकि वह जानता है कि कोई भी ऐसी प्रणाली नहीं

है जिससे वह सही प्रकार का शिक्षक बन सके। यदि व्यक्ति की जीवन्त अभिरुचि है तो वह किसी ऐसी प्रणाली की माँग ही नहीं करेगा जो इच्छित परिणाम का आश्वासन दे सके।

क्या कोई प्रणाली हमें प्रज्ञावान बना सकती है? हमारे ऊपर किसी प्रणाली की सान चढ़ायी जा सकती है, हम पदवियाँ प्राप्त कर सकते हैं, आदि-आदि; परन्तु क्या तब हम एक शिक्षक होंगे, अथवा किसी व्यवस्था-प्रणाली के केवल एक मूर्त रूप होंगे? पुरस्कार की इच्छा अथवा यह इच्छा कि हमें एक असाधारण शिक्षक पुकारा जाय मात्र सम्मान एवं प्रशंसा की लालसा है, और यह ठीक है कि प्रशंसित तथा प्रोत्साहित किया जाना कभी-कभी अच्छा लगता है परन्तु यदि अपनी अभिरुचि बनाये रखने के लिए उस पर निर्भर करने लगता है, तो वह एक नशा हो जाता है जिससे व्यक्ति शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। प्रशंसा तथा प्रोत्साहन की आशा करना बिल्कुल अपरिपक्वता है।

यदि किसी नवीन वस्तु की रचना करनी है, तो यह आवश्यक है कि हम सतर्क एवं स्फूर्तिवान हों, न कि झगड़ते रहें तथा शिकायत करते रहें। यदि व्यक्ति अपने कार्य में कुण्ठा का अनुभव करता है तो प्राय: ऊब एवं थकावट उत्पन्न होती है। यदि व्यक्ति की रुचि नहीं है तो उसे अध्यापन करना जारी नहीं रखना चाहिए।

परन्तु अध्यापकों में प्राय: जीवन्त अभिरुचि का अभाव क्यों होता है? उनके द्वारा कुण्ठा अनुभव करने के क्या कारण हैं ? परिस्थितियों से बाध्य होकर किसी कार्य को करने की वजह से कुण्ठा उत्पन्न नहीं होती; वह तो तब उत्पन्न होती है जब हम अपने विषय में यही ठीक से नहीं जानते कि वह क्या है जिसे वास्तव में हम करना चाहते हैं। भ्रांत होकर हम चारों ओर धक्के खाते हैं और तब अन्त में कहीं ऐसी जगह टिक जाते हैं जहाँ हमारी कोई रुचि नहीं होती।

यदि शिक्षा हमारी वास्तविक वृत्ति है तो अस्थाई रूप से हम कुण्ठा का अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि हमें वर्तमान शैक्षिक भ्रांति से बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता है; परन्तु जैसे ही सम्यक् शिक्षा के निहितार्थों को हम देखेंगे तो पायेंगे यह किसी संकल्प अथवा दृढ़ निश्चय का विषय नहीं है, यह प्रत्यक्षीकरण एवं अवबोध का विषय है।

यदि शिक्षण किसी व्यक्ति की वृत्ति है और यदि वह उचित शिक्षा के गम्भीर महत्त्व को देखता है तो वह सही प्रकार का शिक्षक हुए बिना नहीं रह सकता। उसके लिए किसी प्रणाली का अनुगमन करने की आवश्यकता नहीं है। इस तथ्य का अवबोध-मात्र ही कि व्यक्ति की मुक्ति एवं उसके जीवन में समन्वय को उपलब्ध करने के लिए उचित शिक्षा अपरिहार्य है, यह व्यक्ति में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न करता है। यदि व्यक्ति इसके प्रति जागरूक हो जाता है कि उचित शिक्षा के ही द्वारा शांति एवं सुख सम्भव है, तो स्वभावत: व्यक्ति अपने जीवन को तथा अपनी अभिरूचि को उसके लिए अर्पित कर देगा।

बालक को हम इसलिए शिक्षित करते हैं कि वह अपने आभ्यन्तर में समृद्ध हो सके। इसके परिणामस्वरूप वह अपनी सम्पत्ति को भी सही मूल्य प्रदान करेगा। आभ्यन्तर की इस समृद्धि के अभाव में सांसारिक वस्तुएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं और उससे विभिन्न प्रकार की तबाही एवं कष्ट उत्पन्न होता है। बालक को शिक्षा हम इसलिए देते हैं कि वह अपनी उचित वृत्ति खोज सके तथा उन व्यवसायों से बच सके जो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच बैर का कारण बनते हैं। हम बालकों को शिक्षा इसलिए देते हैं कि वे आत्मज्ञान की ओर बढ़ें, जिसके अभाव में न तो शांति सम्भव है और न स्थायी सुख। शिक्षा आत्म-तुष्टीकरण के लिए नहीं, वरन आत्म-त्याग के लिए होती है।

उचित शिक्षा के अभाव में भ्रम को यथार्थ समझ लिया जाता है और तब व्यक्ति आभ्यंतर में सदा ही द्वन्द्व में रहता है। इसी से दूसरों के साथ अर्थात समाज के साथ ही उसका द्वन्द्व रहता है। शिक्षण हम इसलिए करते हैं कि हम देखते हैं कि संगठित धर्मों के रूढ़ि-सिद्धान्तों अथवा कर्मकाण्डों से नहीं वरन आत्मज्ञान से मन शांत होता है; और वह सृजन, सत्य, ईश्वर केवल तभी अभिव्यक्ति होता है जब ''मैं'' और ''मेरा'' का अतिक्रमण हो जाता है।

■

काम-वृत्ति तथा विवाह

दूसरी मानवी समस्याओं की भाँति ही हमारी विषय-वासना एवं काम-सम्बन्धी आवेगों की समस्या भी जटिल तथा कठिन है; और यदि शिक्षक ने इस समस्या का गहराई से अन्वेषण नहीं किया है तथा उसके अनेक निहितार्थों को नहीं समझा है तो वह उनकी सहायता कैसे कर सकता है जिनको वह शिक्षित कर रहा है? यदि अभिभावक अथवा अध्यापक स्वयं ही काम-वृत्ति की परेशानी से ग्रसित है तो वह बालक का मार्ग निर्देशन कैसे कर सकता है? यदि इस समस्या के सम्पूर्ण रूप को एवं उसके महत्त्व को हम स्वयं नहीं समझते तो बालकों की सहायता कैसे कर सकते हैं? काम-वृत्ति से सम्बन्धित अवबोध को जिस रूप में बालक को अध्यापक देता है, वह उसके मन की अवस्था पर आधारित है; वह इस पर निर्भर करता है कि अध्यापक में सदाशयतापूर्ण शांति है अथवा नहीं, अथवा वह स्वयं अपनी वासनाओं से आक्रांत है या मुक्त है।

हममें से अधिकांश के लिए काम-वृत्ति भ्रांति एवं द्वन्द्व जैसी एक समस्या क्यों है? क्यों हमारे जीवन में इसका इतना प्रमुख स्थान हो गया है? इसका एक कारण यह है कि हम सृजनशील नहीं है; क्योंकि हमारी समस्त सामाजिक और नैतिक संस्कृति ही नहीं वरन हमारी शिक्षण-पद्धतियाँ भी बुद्धि के ही विकास पर आधारित हैं। काम-वृत्ति की समस्या का समाधान इसी अवबोध में है कि सृजनशीलता कभी बुद्धि के कार्य के माध्यम से नहीं आती। इसके विपरीत सृजनशीलता तभी सम्भव होती है जब बुद्धि शांत होती है।

बुद्धि अर्थात मन केवल पुनरावृत्ति कर सकता है, केवल स्मरण कर सकता है, वह निरन्तर नवीन शब्दों की रचना कर रहा है तथा पुरानी चीजों को नवीन व्यवस्था में ढाल रहा है; इसलिए हम केवल शब्दों एवं यांत्रिक पुनरावृत्तियों पर ही जीवित रहते हैं। स्पष्ट है कि यह सृजन नहीं है, और चूँकि हम सृजनशीलता से रहित हैं, तो सृजनशील होने का जो एक साधन हमारे पास बचता है वह काम-वृत्ति ही है। काम-वृत्ति मन की वस्तु है, और जो मऩ की वस्तु है उसे तो अपने को तुष्ट करना ही है, अन्यथा कुण्ठा होती है, निराशा होती है।

हमारे विचार एवं हमारा जीवन संकीर्ण, शुष्क, खोखला तथा रिक्त है; संवेगात्मक रूप से हम सदा अतृप्त हैं तथा धार्मिक एवं बौद्धिक रूप से हम सदा पुनरावृत्यात्मक एवं स्फूर्तिविहीन हैं; सामाजिक, राजनीतिक, तथा आर्थिक रूप से हम बँधे हुए हैं एवं नियंत्रित हैं। हम सुखी लोग नहीं हैं; हम जीवन के आनन्द से भरे नहीं हैं; न तो घर में, न व्यापार अथवा चर्च अथवा विद्यालय में ही हमें सृजनशीलता की अवस्था का अनुभव होता है; अपने दैनिक विचार अथवा कार्य में हमें कभी गहरी मुक्ति का बोध नहीं होता। सभी ओर से पकड़े एवं जकड़े हुए होने के कारण केवल काम-वृत्ति ही हमारे लिए एक मार्ग रह जाती है— एक ऐसा अनुभव जिसे पुनः-पुनः हम चाहते हैं, क्योंकि वह कुछ क्षणों के लिए सुख की वह अवस्था हमें देता है जो तभी उत्पन्न होती है जब 'स्व' का अभाव होता है। समस्या काम-वृत्ति में नहीं है, समस्या उस वासना में है जो सुख की अवस्था को पुनः-पुनः प्राप्त करना चाहती है, जो आनन्द को प्राप्त करना तथा सुरक्षित रखना चाहती है, चाहे वह काम-वृत्ति सम्बन्धी हो अथवा कोई दूसरी।

हमारी खोज का वास्तविक लक्ष्य आत्म-विस्मरण का यह तीव्र आवेग ही है अर्थात किसी ऐसी वस्तु के साथ तादात्म्य, जिसमें हम अपने को पूर्णतया भूला सकें। परन्तु 'स्व' तो संकीर्ण, क्षुद्र तथा कष्ट का स्रोत है, अतः चेतन अथवा अचेतन रूप में हम व्यक्तिगत अथवा सामूहिक उत्तेजनाओं में अथवा ऊँचे विचारों में अथवा विषय-वासना के किसी फूहड़ रूप में अपने को भुला देना चाहते हैं।

जब हम 'स्व' से पलायन चाहते हैं तो पलायन के साधन बड़े महत्त्व के हो जाते हैं, और तब वे हमारे लिए कष्टप्रद समस्याएँ भी बन जाते हैं। जब तक हम उन बाधाओं का अन्वेषण नहीं करते तथा उन्हें नहीं समझते जो सृजनशील जीवन में रोड़ा अटकाती हैं—सृजनशील जीवन, जो कि स्व से मुक्ति है— तब तक हम काम-वृत्ति की समस्या को नहीं समझेंगे।

सृजनशील जीवन की अनेक बाधाओं में से भय भी एक है, और सम्मानीयता इसी भय की एक अभिव्यक्ति है। जो सम्मानीय हैं, जो नैतिक रूप से कहीं बँधे हैं, वे जीवन के सम्पूर्ण एवं गहरे महत्त्व के प्रति जागरूक नहीं है। वे अपनी ही नैतिकता की दीवारों में बन्द हैं और उनके परे नहीं देख सकते। उनका चश्मा रंगीन है; किन्हीं आदर्शों एवं धार्मिक विश्वासों के आधार पर वे नैतिकता की आड़ में

शरण ले लेते हैं, तो वे अपने भ्रम के संसार में ही रहते हैं। अपनी आत्म-प्रक्षिप्त तथा परितोष देनेवाली नैतिकता के बावजूद भी ये सम्मानीय व्यक्ति, भ्रांति, कष्ट तथा द्वन्द्व में हैं।

भय हमारी सुरक्षित होने की वासना का परिणाम है, यह हमें प्रभुत्व का अनुयायी बनाता है, उसका अनुकरण कराता है तथा उसके अधीन करता है; अतः वह सृजनशील जीवन के लिए बाधक है। सृजनशीलता के साथ जीवित रहने का अर्थ है मुक्ति का जीवन, जिसका अर्थ भय का अभाव है, और सृजनशीलता की अवस्था तभी सम्भव होती है जब मन वासना तथा उसके तुष्टीकरण में नहीं फँसा होता है। अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान से स्वयं अपने मन और हृदय का अवलोकन करके ही हम अपनी वासना के प्रच्छन्न रूपों को प्रकाश में ला सकते हैं। जितने अधिक विवेकपूर्ण तथा प्रेममय हम होते हैं, उतना ही कम हमारे मन पर वासना का प्रभुत्व होता है। जब प्रेम नहीं होता तब विषय-वासना एक विनाशकारी समस्या बन जाती है।

विषय-वासना की इस समस्या को समझने के लिए हमें उस समस्या को किसी एक दृष्टि से नहीं वरन शैक्षिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, सभी दृष्टियों से देखना होगा। विषय-भोग विशेष रूप से हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो गये हैं क्योंकि हम संवेदनात्मक मूल्यों को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।

पुस्तकों, विज्ञापनों, सिनेमा तथा अनेक दूसरे तरीकों से विषय-भोग के विभिन्न पक्षों पर निरन्तर जोर दिया जा रहा है। राजनीतिक तथा धार्मिक तमाशे, थियेटर तथा दूसरे प्रकार के मनोरंजन, आदि सभी हमें प्रोत्साहित करते हैं कि हम अपने जीवन में विभिन्न स्तरों पर उत्तेजनाओं की खोज करें; और इस प्रोत्साहन में हम आनन्द लेते हैं। विषय-वासना को सभी सम्भव तरीकों से बढ़ाया जा रहा है, और उसी के साथ ब्रह्मचर्य के आदर्श का भी झंडा खड़ा किया जाता है। इस प्रकार हमारे अन्दर एक अन्तर्विरोध का निर्माण हो रहा है, और आश्चर्य की बात है कि स्वयं यह अन्तर्विरोध भी विषय-भोग को उकसाने वाला ही है।

विषय-वासना मन की मुख्य क्रियाओं में से एक है और जब हम इसके प्रयत्नों को समझते हैं तो भोग, उत्तेजना तथा हिंसा हमारे जीवन के प्रमुख अंग नहीं रहते। चूँकि हम प्रेम नहीं करते अतः काम-वृत्ति अथवा विषय-वासना के पीछे दौड़ना हमारे लिए बड़ी कठिन समस्या हो गयी है। जहाँ प्रेम है वहाँ ब्रह्मचर्य

होता है; परन्तु जो ब्रह्मचर्य के लिए प्रयत्न करता है वहाँ ब्रह्मचर्य नहीं होता। सदाचार मुक्ति के साथ आता है, वह तभी आता है जब जो वास्तविकता है उसका हमें अवबोध होता है।

जब हम युवक होते हैं, तब हमारी काम-विषयक प्रेरणाएँ तीव्र होती हैं, और अधिकांश व्यक्ति इन वासनाओं का नियंत्रण करते तथा उन्हें अनुशासित करके उनसे निपटने का प्रयत्न करते हैं; क्योंकि हम समझते हैं कि नियंत्रण के अभाव में हम कामासक्त हो जायेंगे और वह हानिकर होगा। संगठित धर्मों को हमारी काम-विषयक नैतिकता की बड़ी चिन्ता हैं; परन्तु राष्ट्रीयता के नाम पर वे हमें हिंसा तथा हत्या की, द्वेष एवं चालाकियों से भरी निष्ठुरता की और शक्ति तथा सफलता के पीछे दौड़ने की अनुमति देते हैं। उन्हें क्यों इस विशेष प्रकार की नैतिकता की चिन्ता है; वे शोषण, लालच तथा युद्ध पर आक्रमण क्यों नहीं करते? क्या इसका कारण यह नहीं है कि संगठित धर्म उस परिवेश का अंग होने के कारण जिसे स्वयं हमने बनाया है, स्वयं अपने अस्तित्व के लिए ही हमारी आशंकाओं पर, हमारे द्वेष एवं पृथकतावाद पर निर्भर करते हैं? अत: दूसरे क्षेत्रों की भाँति धार्मिक क्षेत्र में भी मन स्वयं अपनी वासनाओं के प्रक्षेपण में जकड़ा रहता है।

जब तक वासना की समस्त प्रक्रिया का हमें गहरा अवबोध नहीं है, तब तक विवाह-संस्था, जैसी कि वह इस समय पूर्व अथवा पश्चिम में है, काम-वृत्ति की समस्या का समाधान नहीं दे सकती। किसी समझौते पर हस्ताक्षर करके प्रेम नहीं उत्पन्न किया जा सकता; वह न तो परितोष के लेन-देन पर आधारित है, और न परम्पराश्रित सुरक्षा एवं सुविधा पर। ये सभी वस्तुएँ मन की हैं, और यही कारण है कि प्रेम का हमारे जीवन में इतना छोटा स्थान है। प्रेम मन की वस्तु नहीं है, वह विचार-क्रिया तथा उसकी चतुर योजनाओं से, उसकी आत्मसुरक्षात्मक आवश्यकताओं एवं प्रतिक्रियाओं से पूर्णतया मुक्त है। जब प्रेम होता है तब काम-वृत्ति कभी भी समस्या नहीं होती— प्रेम का अभाव ही इस समस्या को उत्पन्न करता है।

मन के अवरोध तथा पलायन ही तो है जो समस्या को निर्मित करते हैं, वह काम-वृत्ति हो अथवा कोई दूसरे विषय। इसलिए यह आवश्यक है कि हम मन की प्रक्रिया को, उसके आकर्षण एवं विराग को, सुन्दर-असुन्दर के प्रति उसकी अनुक्रिया को समझें।

हमें अपना अवलोकन करना चाहिए; हमें इसके प्रति जागरूक होना चाहिए कि हम लोगों को क्या समझते हैं; स्त्रियों एवं पुरुषों की ओर हम कैसे देखते हैं। हमें समझना चाहिए कि परिवार को जब आत्म-सातत्य का साधन समझा जाता है; और जब उसका आत्म-गौरव के लिए उपयोग किया जाता है तो वह पृथकतावादी तथा समाज विरोधी कार्यों का केन्द्र बन जाता है। परिवार एवं सम्पत्ति जब 'स्व' और उसकी सदा अधिकाधिक संकीर्ण होने वाली वासनाओं तथा व्यवहारों पर केन्द्रित होती है । तो वे शक्ति तथा आधिपत्य के उपकरण बन जाते हैं, जो व्यक्ति एवं समाज के बीच द्वन्द्व के स्रोत हैं।

इन सभी मानवीय प्रश्नों के विषय में कठिनाई यह है कि हम स्वयं अर्थात अभिभावक एवं अध्यापक, अत्यधिक क्लान्त एवं निराश, पूर्णतः भ्रान्त एवं अशान्त हो गये हैं। हमारे ऊपर जीवन का एक बड़ा बोझ है, हम सान्त्वना चाहते हैं, हम चाहते हैं कि हमसे प्रेम किया जाय । अपने आभ्यन्तर में हम निर्धन एवं अपूर्ण हैं और तब हम कैसे यह आशा कर सकते हैं कि हम बालक को सही दिशा दे सकेंगे?

यही कारण है कि प्रमुख समस्या बालक नहीं है वरन स्वयं शिक्षक है। यदि हम दूसरों को शिक्षा देने में समर्थ होना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम सबके मन तथा हृदय शुद्ध हों। यदि शिक्षक स्वयं भ्रांत है, कुटिल है, अपनी ही वासनाओं की भूल-भूलैया में खोया हुआ है, तब वह कैसे दूसरे को विवेक दे सकता है अथवा कैसे वह दूसरे के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है? परन्तु हम कोई यन्त्र नहीं हैं जिसको किसी विशेषज्ञ द्वारा समझा जा सकता है तथा उसकी मरम्मत की जा सकती है; हम प्रभावों तथा घटनाओं की एक लम्बी शृंखला के परिणाम हैं, और हममें से प्रत्येक को अपने से ही अपने स्वभाव की भ्रांति को समझना तथा सुलझाना होगा।



कला, सौन्दर्य और सृजन

हममें से अधिकांश व्यक्ति निरन्तर अपने से पलायन का प्रयत्न करते रहते हैं, और चूँकि ऐसा करने के लिए कला एक सरल एवं सम्मानित साधन प्रस्तुत करती है, अत: अनेक लोगों के जीवन में कला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आत्म-विस्मरण की वासना से कुछ लोग कला की ओर मुड़ते हैं, कुछ सुरापान करते हैं, जबकि इसी प्रकार दूसरे लोग रहस्यमय एवं काल्पनिक धार्मिक सिद्धान्तों का अनुगमन करते हैं।

जाने-अनजाने जब हम स्वयं अपने से पलायन के लिए किसी वस्तु का प्रयोग करते हैं तो हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। अपनी चिन्ताओं एवं संत्रासों से मुक्ति पाने के लिए किसी व्यक्ति अथवा कविता, अथवा ऐसी ही किसी दूसरी वस्तु को साधन मानकर उस पर आश्रित होना कुछ क्षणों के लिए आनन्दप्रद हो सकता है, परन्तु हमारे जीवन में वह और अधिक द्वन्द्व तथा अन्तर्विरोध ही उत्पन्न करता है।

जहाँ द्वन्द्व है वहाँ सृजनशीलता की स्थिति का अस्तित्व सम्भव नहीं है, और इसलिए उचित शिक्षा को इसमें व्यक्ति की सहायता करनी चाहिए कि वह अपनी समस्याओं का सामना करे; ऐसी शिक्षा को पलायन के मार्गों को महत्त्व प्रदान करने से बचना चाहिए। उसे द्वन्द्व को समझने में तथा उसके विलय में व्यक्ति की सहायता करनी चाहिए, क्योंकि तभी सृजनशीलता की अवस्था सम्भव हो सकती है।

जीवन से पृथक कला का कोई महत्त्व नहीं है। जब कला हमारे दैनिक जीवन से पृथक होती है, जब चित्र-फलक पर, अथवा शब्दों में अथवा संगमरमर पर किये गये हमारे प्रयत्नों और हमारे मूल प्रवृत्यात्मक जीवन के बीच खाई होती है, 'तो कला जो है', की वास्तविकता से पलायन की हमारी खोखली इच्छा की वह एक अभिव्यक्ति होती है। पृथकता की इस खाई को पाटना एक बड़ा कठिन कार्य है, विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो प्रतिभाशाली हैं, परन्तु हमारा जीवन तभी एकीकृत बनता है और कला तभी हमारी एकीकृत अभिव्यक्ति होती है जब यह खाई पट जाती है।

मन के पास भ्रम को उत्पन्न करने की शक्ति है, और बिना उसके तरीकों को समझें अन्त:प्रेरणा की खोज करना आत्म-वंचना को निमन्त्रण देना है। अन्तः प्रेरणा तभी आती है जब हम उसके प्रति खुले होते हैं, यह याचना करने से नहीं आती। किसी भी प्रकार की उत्तेजना के माध्यम से अन्त:प्रेरणा को प्राप्त करने का यत्न करना अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न करता है।

जब तक कोई व्यक्ति अस्तित्व के महत्त्व के प्रति सचेत नहीं है, उसकी क्षमता अथवा प्रतिभा स्व को तथा उसकी वासनाओं को ही महत्त्व एवं गौरव प्रदान करती है। वह व्यक्ति को स्व-केन्द्रित तथा पृथकतावादी बनने में प्रवृत्त करती है; व्यक्ति अपने को एक श्रेष्ठ एवं पृथक सत्ता के रूप में अनुभव करता है। यह सब अनेक बुराइयों को तो उत्पन्न करता ही है, वह निरन्तर कष्ट एवं संघर्ष का भी कारण बनता है। स्व अनेक बुराइयों का समूह है, जिनमें से प्रत्येक दूसरे की विरोधी है। ये इकाइयाँ संघर्षरत वासनाएँ हैं और स्व इनका युद्ध-क्षेत्र है, एक केन्द्र जिसमें 'मेरे' और 'तेरे' के बीच में निरन्तर संघर्ष होता रहता है, और जब तक हम स्व को अर्थात 'मैं' और 'मेरे' को, महत्त्व प्रदान करते रहेंगे हमारे अपने अन्दर तथा विश्व में संघर्ष की वृद्धि होती रहेगी।

एक सच्चा कलाकार स्व के प्रमाद और उसकी महत्त्वाकांक्षाओं से परे होता है। प्रतिभाशाली अभिव्यक्ति की क्षमता रखना और फिर भी सांसारिक बन्धन में पड़े रहना एक ऐसा जीवन उत्पन्न करता है जिसमें अन्तर्विरोध और संघर्ष होता है। प्रशंसा एवं चाटुकारिता को जब हृदय से स्वीकार कर लिया जाता है तो वह अहंकार को बढ़ाता है तथा ग्रहणशीलता को नष्ट करता है, और स्पष्ट है कि किसी भी क्षेत्र में सफलता-मात्र की उपासना प्रज्ञा के लिए हानिकारक है।

कोई भी प्रवृत्ति अथवा योग्यता जो पृथकता उत्पन्न करती है, अथवा किसी भी रूप में स्व का तादात्मीकरण है, वह चाहे कितनी भी प्रेरणादायक क्यों न हो, संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति को विरूपित करती है तथा संवेदनशीलता उत्पन्न करती है। जब योग्यता व्यक्तिगत हो जाती है, जब 'मैं' और 'मेरे' को महत्त्व दे दिया जाता है— मैं चित्र बनाता हूँ , मैं लिखता हूँ , मैं आविष्कार करता हूँ , तो संवेदनशीलता कुण्ठित हो जाती है। जब हम अन्य लोगों, वस्तुओं एवं प्रकृति के साथ अपने सम्बन्ध में अपने विचार एवं भावना की प्रत्येक गति के प्रति सचेत होते हैं, केवल तभी मन खुला हुआ एवं विनम्र होता है, तभी वह आत्म-रक्षात्मक आवश्यकताओं और प्रयत्नों से बँधा नहीं रहता; और केवल तभी सुन्दर एवं असुन्दर के प्रति ऐसी संवेदनशीलता होती है जो स्व से मुक्त होती है।

मोह अथवा राग के द्वारा सुन्दर अथवा कुरूप के प्रति संवेदनशीलता नहीं आती; वह प्रेम से आती है, जब स्व द्वारा उत्पन्न द्वन्द्व नहीं होते। जब हम अन्दर से निर्धन होते हैं, तब हम सभी प्रकार के बाहरी दिखावे में अर्थात धन, शक्ति एवं सम्पत्ति में रस लेते हैं। जब हमारे हृदय खोखले होते हैं, तो हम वस्तुओं का संग्रह करते हैं। यदि सम्भव होता है तो हम अपने चारों ओर ऐसी वस्तुएँ एकत्रित कर लेते हैं जिन्हें हम सुन्दर समझते हैं, और चूँकि हम इन वस्तुओं को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं, इसलिए हम ही तमाम दुख एवं तबाही के जिम्मेदार होते हैं।

परिग्रह की भावना सौन्दर्य-प्रेम नहीं हो सकती; वह सुरक्षा की भावना से उत्पन्न होती है, और सुरक्षित होने का अर्थ है असंवेदनशील होना। सुरक्षित होने की इच्छा भय उत्पन्न करती है, वह पृथकता की प्रक्रिया का सूत्रपात करती है और उससे हमारे चारों ओर प्रतिरोध की दीवार खड़ी होती है। ये दीवारें ही हैं जो हमें असंवेदनशील बना देती हैं। परन्तु किसी वस्तु के प्रति— चाहे जितनी भी सुन्दर वह क्यों न हो— शीघ्र ही हमारा आकर्षण समाप्त हो जाता है; हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं और उसमें जो आनन्द था, वह खोखला एवं नीरस हो जाता है। सौन्दर्य अभी भी वहाँ है परन्तु हम उसके प्रति अभिमुख नहीं हैं; वह हमारे नीरस दैनिक अस्तित्व में आत्मसात हो गया है, एक सामान्य वस्तु हो गया है।

चूँकि हमारे हृदय शुष्क हैं और हम भूल गये हैं कि उदार कैसे हुआ जाता है, सितारों को, जल में पड़ी परछाइयों को कैसे देखा जाता है, इसीलिए हमें चित्रों, जवाहरातों, पुस्तकों और दूसरे तमाम मनोरंजनों से प्राप्त उत्तेजनाओं की आवश्यकता पड़ती है। हम निरन्तर नवीन उद्दीपनों की, नवीन रोमांचों की खोज में लगे रहते हैं; हमें नवीन से नवीन विषयभोगों की वासना होती है। यह वासना तथा उससे प्राप्त सन्तोष ही है जो हमारे मन तथा हृदय को थका हुआ तथा नीरस बना देता है। जब तक हम विषय-वासना की खोज में हैं, तब तक किन्हीं वस्तुओं को सुन्दर अथवा कुरूप कहने का कोई गम्भीर महत्त्व नहीं है। स्थायी आनन्द तभी सम्भव है जब हम वस्तुओं को एक ताजगी के साथ देख सकें— परन्तु जब तक हम अपनी वासनाओं के साथ बँधे हैं, यह सम्भव नहीं है। तुष्टीकरण की तथा विषयों की यह वासना हमें नित्य नवीन का साक्षात नहीं करने देती। विषय-भोगों को खरीदा जा सकता है परन्तु सौन्दर्य के प्रेम को नहीं।

अपने मन एवं हृदय के खोखलेपन के प्रति जब हम सचेत होते हैं तथा किसी भी प्रकार की विषय-वासना अथवा उद्दीपन से पलायन नहीं करते, जब हम पूर्णतया विनिर्मुक्त एवं अत्यधिक संवेदनशील होते हैं, तभी हम सृजनशील आनन्द को प्राप्त करेंगे। आभ्यन्तर को समझे बिना बाह्य का परिष्कार करना निश्चय ही उन मूल्यों का निर्माण करना है जो मनुष्य को दुख एवं बरबादी की ओर ले जाते हैं।

किसी तकनीक को सीख लेने से हमें कोई नौकरी मिल सकती है, परन्तु उससे हम सृजनशील नहीं बन जायेंगे; परन्तु यदि आनन्द है, यदि सृजनशीलता की आग है, तो वह अपने को अभिव्यक्त करने का मार्ग खोज ही लेगी; उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। जब कोई व्यक्ति कविता लिखना चाहता है तो वह कविता लिख लेता है और यदि उसके पास उसकी तकनीक भी है तो अच्छा ही है। परन्तु यदि अभिव्यक्त करने के लिए कुछ है ही नहीं तो विचार-सम्प्रेषण के माध्यम पर जोर देकर क्या होगा? जब हमारे हृदय में प्रेम है, तब वहाँ शब्दों का संयोजन कैसे किया जाय इसके लिए कोई शैली सीखने की हमें आवश्यकता नहीं पड़ती।

महान कलाकार एवं महान लेखक सर्जक होते हैं, परन्तु हम नहीं हैं; हम केवल दर्शक हैं। हम एक बड़ी संख्या में पुस्तकें पढ़ते हैं, बढ़िया-से-बढ़िया संगीत सुनते हैं, कला-कृतियों का अवलोकन करते हैं, परन्तु हम कभी जो श्रेष्ठतम है, परम है, उसका परोक्ष साक्षात नहीं करते; हमारा अनुभव सदा किसी कविता, किसी चित्र, किसी संत-व्यक्ति के माध्यम से होता है। गायन तभी सम्भव होता है जब हमारे हृदय में संगीत हो; परन्तु उस संगीत को खोकर हम बस संगीतज्ञ के पीछे दौड़ते हैं। किसी माध्यम के अभाव में हम अपने को खोया हुआ अनुभव करते हैं; परन्तु इसके पहले कि हम किसी वस्तु का आविष्कार कर सकें हमारा खोया जाना आवश्यक है। आविष्कार सृजनशीलता का समारम्भ है और सृजनशीलता के अभाव में हम चाहे जो भी करें, मनुष्य के लिए सुख तथा शान्ति सम्भव नहीं है।

हम सोचते हैं कि यदि हम किसी तकनीक, किसी शैली को सीख लें तो हम सुख एवं सृजनशीलता में रहने के योग्य हो जायेंगे; परन्तु सृजनशील सुख तभी आता है जब आन्तरिक समृद्धि होती है; वह कभी किसी व्यवस्था-प्रणाली के माध्यम से नहीं प्राप्त हो सकता। आत्म-उन्नयन भी 'मैं' और 'मेरे' की सुरक्षा के

आश्वासन को प्राप्त करने का एक दूसरा तरीका है। वह सृजनशीलता नहीं है और न वह सौन्दर्य-प्रेम ही है। सृजनशीलता तभी आती है जब मन की प्रक्रिया के प्रति और उन बाधाओं के प्रति जो मन ने अपने लिए उत्पन्न कर लिया है, सतत जागरूकता होती है।

सृजन के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता अथवा मुक्ति आत्मज्ञान के साथ आती है; परन्तु आत्मज्ञान कोई नैसर्गिक प्रतिभा नहीं है। बिना किसी विशेष प्रतिभा के भी कोई व्यक्ति सृजनशील हो सकता है। सृजनशीलता एक ऐसी अवस्था है जिसमें स्व के द्वन्द्वों और दुखों का अभाव होता है, एक ऐसी अवस्था जिसमें मन वासना की आवश्यकताओं और उसके प्रयत्नों से ग्रसित नहीं है।

सृजनशील होना केवल कविताओं अथवा मूर्तियों की रचना करना अथवा सन्तान उत्पन्न करना नहीं है; सृजनशील होना एक ऐसी अवस्था में होना है जिसमें सत्य अभिव्यक्त होता है। सत्य तभी अभिव्यक्त होता है जब विचार का पूर्णतया पर्यावसान हो जाता है; और विचार का पूर्णतया तभीअवसान होता है जब स्व अनुपस्थित होता है अर्थात जब मन ने सृजन करना बन्द कर दिया है अर्थात जब वह अपने उद्यमों में नहीं फँसा है। जब मन पूर्णतया शान्त है और इस शान्ति के लिए उसे न तो बाध्य किया गया है और न कोई प्रशिक्षण दिया गया है अर्थात जब उसकी शान्ति इसीलिए है कि स्व निष्क्रिय है, सृजन तभी सम्भव होता है।

सौन्दर्य का प्रेम अपने को किसी गायन में, किसी मुस्कान में भी अभिव्यक्त कर सकता है और शान्ति में, मौन में भी; परन्तु हममें से अधिकांश में शान्त रहने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। पक्षियों का तथा भ्रमण करते हुए बादलों का अवलोकन करने का हमारे पास समय नहीं है, क्योंकि हम अपने कार्यों और अपने भोगों में अत्यधिक व्यस्त हैं। जब हमारे अपने हृदय में ही सौन्दर्य नहीं है तो हम बालकों की कैसे सहायता कर सकते हैं कि वे सचेत एवं संवेदनशील बनें। हममें कुरूपता से बचना असंवेदनशीलता उत्पन्न करता है। यदि हम बालकों में संवेदनशीलता का विकास करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम स्वयं सौन्दर्य और कुरूपता दोनों के प्रति संवेदनशील हों और जहाँ तक हो सके हम बालकों में उस आनन्द को जगायें जो केवल मनुष्य द्वारा सर्जित सौन्दर्य का अवलोकन करने से ही नहीं वरन प्रकृति के सौन्दर्य का अवलोकन करने से भी होता है।

■

CATALOGUE OF BOOKS AND CASSETTES

	TITLE	Rs.
	KFI BOOKS BY J. KRISHNAMURTI	
1.	Beyond Violence	55.00
2.	Commentaries on Living: Vol.1,2,3	75/,80/,115/
3.	Education and the Significance of Life	35.00
4.	Ending of Time-with David Bohm	115.00
5.	Exploration into Insight	65.00
6.	First and Last Freedom	85.00
7.	Flame of Attention	30.00
8.	Flight of the Eagle	50.00
9.	Freedom from the Known	45.00
10.	Future of Humanity- with David Bohm	.25.00
11.	In the Light of Silence All Problems are Dissolved	25.00
12.	Krishnmurti at Rajghat	100.00
13.	Krishnmurti For Beginners	175.00
14.	Krishnmurti to Himself	35.00
15.	Krishnmurti's Journal	30.00
16.	Krishnmurti's Notebook	50.00
17.	Last Talks	65.00
18.	Letters to the Schools: Vol. 1-2	40.00
19.	Life Ahead	85.00
20.	Meditations	45.00
21.	Meeting Life	80.00
22.	Mind without Measure	65.00
23.	Network of thought	45.00
24.	On Education	80.00
25.	On Religious Life	90.00
26.	Questions and Answers	55.00
27.	Sri Lanka Talks 1980	20.00
28.	Talks with Rajghat Students	30.00
29.	This Matter of Culture	65.00
30.	Tradition and Revolution	95.00
31.	Truth and Actuality	55.00
32.	Way of Intelligence	75.00
33.	Within the Mind	40.00
34.	You are the World	75.00
	KFI BOOKLETS BY J. KRISHNAMURTI	
1.	Book of Life	3.00
2.	Conversations	5.00
3.	Core of the Teaching	1.00
4.	Dialogue with Oneself	3.00
5.	Freedom, Responsobility & Discipline	3.00
6.	Inward Flowering	3.00
7.	Krishnamurti at Los Alamos: 1984	3.00
8.	Krishnamurti at Rishi Valley-II	15.00
9.	Mind and Meditation	3.00
10.	Seer Who Walks Alone	2.00
11.	Time and the Timeless	4.00
12.	Unconditionally Free	10.00
13.	KFI Brochure	5.00
14.	Bulletins(KFI, KFA or KFT)	10.00

AUDIO CASSETTES

1.	Discussion with Scientists& Scholars	35.00
2.	Discussion with Scientists& Scholars	35.00
3.	Education and Life's Challenges(3)	105.00
4.	Fear and Pleasure	30.00
5.	Krishnamurti: An Introduction (4)	140.00
6.	Meaning of Life (2)	70.00
7.	Nature of the Self (5)	175.00
8.	Public Talks	35.00
9.	Questions and Answers	35.00
10.	Relationship	30.00
11.	Religious Life	30.00
12.	Seed of Million Years (5)	175.00
13.	Select Series	35.00
14.	This Light in Oneself (2)	70.00
15.	What is Suffering	30.00
16.	Why Man Does Not Change (3)	105.00

VIDIEO CASSETTES

1.	An Introduction : Part 1-2 2	225.00
2.	Be Your Own Teacher	225.00
3.	Challenge of Change	225.00
4.	Enquiry That Has No Path	225.00
5.	Future of Humanity	225.00
6.	Nature of the Mind : Part I-II	225.00
7.	Rhythm of Thought : Part I-II	225.00
8.	The Seer Who Walks Alone	200.00
9.	This Matter of Culture	225.00
10.	Transformation of Man : Part I-II	225.00
11.	What Was Your Childhood Like ?	225.00
12.	Where Do I Begin ?	225.00
13.	Where Knowledge and Silence Go Together (6 tapes : 225/-each)	1,350.00
14.	With a Silent Mind	200.00

TRANSLATIONS / BENGALI BOOKS

1.	Dialogue with Oneself	6.00
2.	Beyond Violence	40.00
3.	Book of Life	6.00
4.	Education and the Significance of Life	40.00
5.	Freedom from Known	40.00
6.	Happy is the Man Who is Nothing	15.00
7.	Inward Flowering	10.00
8.	Meditations	20.00

GUJARATI BOOKS

1.	Dialogue with Oneself	2.00
2.	J. Krishnamurti : A PEnsketch (By Lina Mangaldas)	7.00

MARATHI BOOKS

1.	Krishnamurti : His Life and Death	250.00

MALAYALAM BOOKS

1.	Freedom from the Known	30.00

TAMIL BOOKS

1.	Krishnamurti on Education	50.00
2.	The Only Revolution	65.00

URDU BOOKS

1. Education and the Signilicance of Life (In Press)

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

1.	ज्ञात से मुक्ति (Freedom from the Known)	रु० 35.00
2.	ध्यान (Meditations)	रु० 35.00
3.	हिंसा से परे (Beyond Violence)	रु० 70.00
4.	गरुड़ की उड़ान (The Flight of the Eagle)	रु० 50.00
5.	संस्कृति का प्रश्न (This Matter of Culture)	रु० 100.00
6.	शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य (Education and the Significance of Life)	रु० 60.00
7.	शिक्षा संवाद (Krishnamurti on Education)	रु० 75.00
8.	स्कूलों के नाम पत्र (Letters to the Schools)	रु० 60.50
9.	सीखने की कला (On Learning)	रु० 20.00
10.	आन्तरिक प्रस्फुटन (Inward Flowering)	रु० 15.00
11.	आमूल क्रान्ति की आवश्यकता (Urgency of Change)	रु० 45.00
12.	जो कुछ नहीं है वह सुखी है। (Happy is the Man who is Nothing)	रु० 25.00
13.	जीवन भाष्य (Commentaries on Living – I, II प्रति)	रु० 35.00
14.	प्रथम और अन्तिम मुक्ति (The First and Last Freedom)	रु० 70.00
15.	विज्ञान और सर्जनशीलता (Krishnamurti at Los Alamos)	रु० 10.00
16.	जीवन की पुस्तक (The Book of Life)	रु० 10.00
17.	परम्परा जिसने अपनी आत्मा खो दी है (Tradition which has Lost its Soul)	रु० 10.00
18.	प्रेम : स्वयं में एक संलाप	रु० 10.00
19.	वाशिंगटन वार्ताएँ	रु० 20.00
20.	सत्य एक पथहीन भूमि है	रु० 6.00
21.	स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन	रु० 6.00
22.	अन्तिम वार्ताएँ (The Last Talks)	रु० 70.00

Contact :

KRISHNAMURTI FOUNDATION INDIA

Rajghat Fort, Rajghat, Varanasi-221001

Ph: (0542) 331289; Fax : (0542) 330218

Email : kfi/varanasi@dartmail.dartnet.com

KRISHNAMURTI SCHOOLS

THE BHAGIRATHI VALLEY SCHOOL P.O. Ranari (Via Dunda) Uttar Kashi - 249 151, Uttar Pradesh	Elementary School For local students
RISHI VALLEY SCHOOL (KFI) Rishi Valley - 517 352 Chittoor District, Andhra Pradesh	Boarding School Ages 8 to 17
RAJGHAT BESANT SCHOOL (KFI) Rajghat Fort Varanasi - 221 001, Uttar Pradesh	Boarding School Ages 7 to 19
VASANTA COLLEGE FOR WOMEN Rajghat Fort Varanasi - 221 001, Uttar Pradesh	B. A., B. ED. & B. Com. (Humanities only)
THE SCHOOL (KFI) 'Damodar Gardens' Basant Avenue Madras - 600 020	Day School Ages 6 to 17
THE VALLEY SCHOOL (KFI) 'Haridvanam' 17 th K. M. Kanakapura Road Thatguni Post, Bangalore - 560 062	Day/Bording School Ages 6 to 17
SAHYADRI SCHOOL (Newly started, 65 km from Pune) 'Priyali', 84/2 Baner Road Pune - 411 007	Bording School Ages 12 to 14 this year
BAL-ANAND 'Akash Deep' 28, Dongersi Road Bombay - 400 006	After-School Centre for young children
BROCKWOOD PARK SCHOOL Bramdean, Hampshire SO240LQ, U.K.	Education Centre and Boarding School 14 years upwards
THE OAK GROVE SCHOOL P. O. Box 1560 Ojai, California 93023, U. S. A.	Day/Boarding School Ages3-1/2 to 17

जे० कृष्णमूर्ति (१८९५-१९८६) बीसवीं सदी के एक महान दार्शनिक एवं चिंतक जिनके व्याख्यान एवं लेखों ने मानवता को आत्मखोज की ओर प्रेरित किया।

इस पुस्तक में जीवन में शिक्षा के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है कि—

''उचित प्रकार की शिक्षा का अर्थ है प्रज्ञा को जागृत करना तथा समन्वित जीवन का पोषण करना और केवल ऐसी ही शिक्षा एक नवीन संस्कृति तथा शान्तिमय विश्व की स्थापना कर सकेगी। शिक्षा का कार्य मनोवैज्ञानिक बाधाओं के अन्वेषण में प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करना है। एक शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि वह अपनी पूर्व धारणाओं के अन्वेषण के साथ-साथ बालक को अपने परिवेश, अपने स्वभाव, अपने धर्म तथा अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के प्रभावों और परिणामों को समझने में प्रोत्साहित करे।''